

हम बदलें
तो
दुनियाँ बदले

- श्रीराम शर्मा आचार्य

हम बदलें तो दुनिया बदले



लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

२०१०

मूल्य : ३०.०० रुपये

दो शब्द

आज 'युग-परिवर्तन' की चर्चा प्रायः सर्वत्र सुनने में आती है। संसार की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति में बहुत अधिक अंतर पड़ जाने से उसका प्रभाव सामाजिक और धार्मिक परंपराओं पर भी दिखलाई दे रहा है। पर ये दोनों ही क्षेत्र ऐसे हैं, जिनमें मनुष्य जल्दी से बदलाव करने को तैयार नहीं होता। खासकर हमारे देश में तो सामान्य सामाजिक प्रथाओं को भी 'धर्म' का अंग मान लिया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि प्रत्यक्ष में हानिकारक परंपराओं को त्यागने या बदलने में लोग आनाकानी करने लगते हैं। वे यह नहीं समझते कि सामाजिक प्रथाएँ मुख्यतः देश-काल पर आधारित होती हैं। उनके लिए यह हठ करना कि वे पूर्व समय से चली आयी हैं और आगे भी ज्यों की त्यों चलती रहनी चाहिए, नासमझी का परिचय देना है।

इस पुस्तक में बतलाया गया है कि आज सामयिक परिस्थितियों के कारण 'युग-परिवर्तन' की जो विचारधारा जोर पकड़ रही है, उसको देखते हुए हमको अपनी सामाजिक प्रथाओं की अच्छी तरह जाँच करके, उनमें समयानुकूल परिवर्तन करने चाहिए। विशेष रूप से हमारे यहाँ की विवाह और मरणोपरांत की प्रथाएँ इतनी लंबी-चौड़ी और खर्चाली बना दी गई हैं कि अधिकांश लोगों को वे असह्य भार स्वरूप अनुभव होती हैं, पर जातीय बंधनों के कारण लोग रोते-झीकते, मरते-जीते उनको आर्ग ढकलते जा रहे हैं। यह स्थिति शीघ्र से शीघ्र बदलनी चाहिए। तभी हम सुख-शांति के दर्शन कर सकेंगे।

—प्रकाशक

विषय-सूची

१. युग-परिवर्तन और उसकी संभावनाएँ	४
२. इस विषम वेला में हमारा महान् उत्तरदायित्व	६
३. परिवर्तन का केंद्र बिंदु—सद्ज्ञान	१६
४. असुरता से देवत्व की ओर	२४
५. सामाजिक प्रगति का एकमात्र आधार	३१
६. यह सत्यानाशी सामाजिक कुरीतियाँ	३८
७. सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन	४६
८. हमारा समाज असभ्य और अविवेकी न हो	४६
९. सभ्य समाज का स्वरूप और आधार	५७
१०. समाज को शक्तिशाली बनायें	६२
११. लोकमानस की शुद्धि कौन करेगा ?	६७
१२. समाज-सुधार के लिए प्रबुद्ध वर्ग आगे बढ़े	७४
१३. सबकी उन्नति में अपनी उन्नति	८०
१४. देश के लिए—समाज के लिए	८६
१५. मानव जाति की समस्याएँ इस तरह सुलझेंगी	९०
१६. आत्म-सुधार—विश्व कल्याण का सबसे सरल मार्ग	९०२
१७. पहले हम मनुष्य बनें, पीछे कुछ और	९०८
१८. सेवा हमारी जीवन-नीति बने	९१२
१९. चरित्र ही संसार की सर्वोत्तम उपलब्धि है	९१६
२०. व्यक्ति के मूल्यांकन का मापदंड बदलें	९२२
२१. धन को सम्मानित न किया जाए	९२८
२२. नागरिकता और नैतिकता की आधारशिला	९३२
२३. सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन न हो	९३६
२४. व्यवहार-कुशलता की आध्यात्मिक पृष्ठभूमियाँ	९४२
२५. विरोधियों की उपेक्षा कीजिये	९४७
२६. अनुशासन का उल्लंघन न करें	९५१
२७. मंगल सोचिए—मंगल करिए	९५७

हम बदलें तो दुनिया बदले



युग परिवर्तन और उसकी संभावनाएँ

युग परिवर्तन की संभावनाओं के संबंध में महायोगी श्री अरविंद ने कुछ वर्ष पूर्व एक पत्र लेखक को जो उत्तर दिया था, वह विशेष रूप से मननीय है। उन्होंने लिखा था—

‘इस समय संसार में बहुत बुरी-बुरी घटनाएँ हो रही हैं और मैं कहना चाहता हूँ कि अभी इससे भी कहीं अधिक बुरी परिस्थिति आना निश्चित है। पर इसमें घबराने की कोई बात नहीं, वरन् मनुष्य को यह समझना चाहिये कि इस प्रकार की घटनाओं का होना अनिवार्य है, क्योंकि हमारे भीतर घुसे हुए अनेक दोषों का निराकरण तभी हो सकेगा, जबकि वे बाहर निकलकर विनष्ट हो जाएँ। तभी एक नवीन और श्रेष्ठ संसार की रचना हो सकनी संभव है। इस दृष्टि से इन घटनाओं को अब अधिक समय तक रोका नहीं जा सकता। इस संबंध में हमको इस कहावत को ध्यान में रखना चाहिए कि प्रभात होने के पूर्व एक बार अंधकार और भी गहरा हो जाता है। साथ ही मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि अब जो दुनिया बनेगी, वह नई तरह की सामग्री और नये नमूने की बनेगी, इसलिए हमको पुरानी चीजों के नष्ट होने का अधिक शोक नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार की संभावनाएँ अन्य कई भारतीय संत भी प्रकट करते रहे हैं। महात्मा सूरदास के नाम से भजन तो सर्वत्र प्रसिद्ध है कि “सहस बरस लौं सतयुग बीते, धर्म की बेल बढ़े। स्वर्ण-फूल पृथ्वी पर फुले, पुनि जग दशा फिरे” आदि-आदि। मानसरोवर पर निवास करने वाले योग-विद्या के महान् अभ्यासी श्री अवधूत स्वामी

का कहना है कि—‘इसी शताब्दी में सतयुग आगमन के चिह्न प्रत्यक्ष दिखाई देने लगेंगे और उसकी शक्ति दिन पर दिन बढ़ने लगेगी। इसके फल से संसार से पाप, ताप, रोग, शोक मिटाकर मनुष्य सुखपूर्वक रहने लगेंगे।’ इसी प्रकार, गंगोत्री के प्रसिद्ध तपस्वी, बर्फ के बीच में नगन रहकर तपस्या करने वाले स्वामी रामानंद महाराज ने कहा है कि—“अब संसार का रूप बहुत शीघ्र बदलेगा।” हिमालय के परम सिद्ध महात्मा शतानंद ने कहा है—“साधक श्रेष्ठ कलिजीव आज क्रमिक विकास के उच्च शिखर पर चढ़कर भगवान् की चरण वंदना की आशा में है। प्रभु, आज शरणागति रूपी नौका में स्वयं कर्णधार बनकर भवसागर पार करा रहे हैं।”

महात्मा विश्वरंजन ब्रह्मचारी ने लिखा है—“जगदीश्वर की जैसी प्रेरणा मिल रही है, उससे अब हम लोगों को हताश होने का कोई कारण नहीं है। इस घोर मिथ्यायुग में ही सतयुग का प्रकाश बिखर जायेगा। अब पुनः इस देश में ऋषियुग आयेगा। फिर यह भारत ही समग्र वसुधा को ज्ञान-प्रकाश द्वारा अमृत का पथ प्रदर्शन करायेगा, लक्ष्य वस्तु का संधान बतायेगा। वह दिन आयेगा—अवश्य ही आयेगा।”

यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार की सम्मतियाँ आधुनिक समय के महापुरुषों ने ही प्रकट की हैं। नहीं, हमारे प्राचीन धर्म ग्रंथों में भी इनका समर्थन किया गया है और स्पष्ट लिखा है कि इस प्रकार का युग-परिवर्तन सृष्टि का अटल नियम है और यथा अवसर नियमपूर्वक होता ही रहता है। महाभारत के वनपर्व में महाराज युधिष्ठिर के कलियुग के संबंध में प्रश्न करने पर महामुनि मार्कंडेय का निम्न कथन इस समन्वय में विशेष महत्त्वपूर्ण है—

ततस्तुमुल संघाते वर्तमाने युगक्षये ॥ द८ ॥ द्विजाति पूर्व
को लोकः क्रमेण प्रभविष्यति । ततः कालांतरेऽन्यस्मिन्नुनर्लोक

विवृद्धये ॥ ८६ ॥ भविष्यति पुनः दैवमनुकूलं यद्वच्छया । यदा सूर्यश्च चंद्रश्च तथा तिष्य बृहस्पती । एक राशौसमेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदाकृतम् । काल वर्षीच पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानिच । क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं भविष्यति निरामयम् ॥ १६०/८८-६२ ॥

“पहले युग के समाप्त होने के अवसर पर बड़ी ही कठिन अवस्था तथा संघर्ष को सहन करते हुए क्रम से श्रेष्ठ जनों की वृद्धि होती है। इसके पश्चात् ईश्वर की दया से फिर अनुकूल समय आता है। जब चंद्र, सूर्य, पुष्य और बृहस्पति एक राशि में समान अंश पर हो जायेंगे, तब फिर सत्युग आरंभ होगा। तत्पश्चात् शुभ नक्षत्रों में समयानुकूल वर्षा होने लगेगी और सुकाल होकर सब लोग आरोग्यता तथा सुख का उपभोग करने लगेंगे।”

इस प्रकार के युग-परिवर्तन के वर्णन भागवत तथा अन्य ग्रंथ में भी जगह-जगह पाये जाते हैं, पर उपर्युक्त कथन की एक विशेषता यह है कि इसमें युग-परिवर्तन के समय ग्रहों की क्या स्थिति होती है, इसे प्रकट कर दिया गया है और इस आधार पर हम उसका बहुत कुछ सही अनुमान लगा सकते हैं। यह चंद्रमा, सूर्य और बृहस्पति तथा पुष्य नक्षत्र का जो एक साथ योग होना लिखा है, वह ज्योतिर्विज्ञान के ज्ञाताओं के मतानुसार अभी कुछ ही समय पहले हुआ है। पर जैसा ऊपर कहा गया है यह सत् तत्त्वों का विकास और तामसी तत्त्वों का निराकरण क्रमशः ही होगा। यों तो हमने ऐसे भी लोग देखे थे, जो कहते थे कि युग-परिवर्तन एक दिन में होगा। शाम को लोग कलियुग की अवस्था में सोयेंगे और सुबह उठेंगे, तो समस्त लक्षण धर्म-युग के दिखाई पड़ेंगे। पर ये सब तो मनोरंजन या अर्थ का अनर्थ करने वालों की बातें हैं। युग-परिवर्तन विकास और इतिहास के सिद्धांतों के अनुसार क्रमशः ही होगा और उसे नियमानुसार महाकठिन प्रक्रिया और परिस्थितियों में से होकर गुजरना पड़ेगा। वैसी एक परिस्थिति सन् १६६२ से

आरंभ हुई थी, जिसका प्रत्यक्ष फल कालांतर में दिखलाई पड़ने लगेगा।

इस संबंध में ईसाइयों की एकमात्र धर्म पुस्तक बाइबिल में वर्णित भविष्य कथन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। महात्मा ईसा के प्रधान शिष्य महायोगी 'रिवेलेशन' नामक शीर्षक में संसार का भविष्य कथन करते हुए भावी युग परिवर्तन का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। उन्होंने कल-कारखानों और पूँजीवाद की वृद्धि का ज़िक्र करते हुए संसारव्यापी महायुद्ध का रोमांचकारी वर्णन किया है और बतलाया है कि अंत में मानव जाति की रक्षा के लिए ईश्वरीय शक्ति का आविर्भाव होगा और पृथ्वी पर धर्म राज्य की स्थापना की जायेगी। उस धर्म राज्य का वर्णन 'बाइबिल' में इन शब्दों में मिलता है—

'लड़ाई और प्राकृतिक दुर्घटनाओं में करोड़ों मनुष्यों के नष्ट हो जाने के पश्चात् जब पृथ्वी की शासन व्यवस्था धार्मिक संत पुरुषों द्वारा होने लगेगी, तो सब कष्टों का अंत हो जायेगा और मानव समाज सुख से जीवन व्यतीत करने लगेगा। सब लोग ईश्वरीय आदेश के अनुसार चलने लगेंगे और पाप कर्मों को त्याग देंगे, तब दुनिया में सेनाओं और जहाजी बेड़ों का नाम भी न रहेगा और लोग तलवारों को तोड़कर हल का फाल बना लेंगे। एक देश के निवासी दूसरे देश के निवासियों से झगड़ा न करेंगे और युद्ध सदा के लिए बंद हो जायेगा। सब स्त्री और पुरुष दूसरे स्त्री-पुरुषों को बहिन या भाई कहकर पुकारने लगेंगे। कोई मनुष्य छोटी उम्र में न मरेगा और सौ वर्ष की पूरी आयु तक जीवित रहेगा। इस युग में शासनाधिकार सिर्फ उन्हीं लोगों के हाथ में रहेगा, जिनका चरित्र शुद्ध तथा पवित्र होगा, जो नम्र तथा विनयशील होंगे और त्याग वृत्ति का जीवन पसंद करेंगे।'

ईसाई धर्म के बड़े-बड़े विद्वानों ने इन भविष्यवाणियों की आलोचना तथा व्याख्या करके बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे हैं और सिद्ध

किया है कि यह जमाना अब सर्वथा समीप आ चुका है। राजनीति तथा इतिहास के ज्ञाता, जो प्राचीन धर्म ग्रंथों से किसी तरह का संबंध नहीं रखते, वे भी भिन्न शब्दों में इसी से बिल्कुल मिलती-जुलती संभावना प्रकट कर रहे हैं। अंग्रेजी के महान् लेखक श्री एच० जी० वेल्स ने 'शेप ऑफ दी थिंग्स टू कम' (आने वाली घटनाओं का स्वरूप) नामक एक बड़ी पुस्तक लिखी है, उसमें भी मावी-समाज का हूबहू ऐसा ही चित्र खींचा गया है। उनके मतानुसार सन् २००० ईस्वी से पहले ऐसी दुनिया का निर्माण सर्वत्र आरंभ हो जायेगा।



इस विषम वेला में हमारा महान् उत्तरदायित्व

जिस समय में हम लोग जी रहे हैं, वह भारी उथल-पुथल का है। शताब्दियों और सहस्राब्दियों से मानव-जाति जिस अनीति का आश्रय लिये हुए है, उसके प्रायश्चित्त का ठीक समय यही है। मानव-जाति एक श्रृंखला में बँधी हुई है। उसकी सारी प्रगति का आधार पारस्परिक सहयोग है। इस सहयोग को नैतिक उत्तरदायित्व उठाने में भी स्थिर रखना चाहिए। यदि कुछ लोग अनीति, अनाचार एवं दुर्बुद्धि का आचरण करते हैं, तो शेष लोगों का परम कर्तव्य है कि उसे रोकें। कोई व्यक्ति अपने घर में आग लगाये, तो उसे रोकना पड़ेगा अन्यथा सारे गाँव, मुहल्ले के जल जाने की आशंका है। इसी प्रकार समाज के किसी भाग में अनाचार उत्पन्न हो, तो उसे रोकने की जिम्मेदारी सभी लोगों पर है। ठीक है, यह कार्य शासन द्वारा पुलिस-न्यायालयों के माध्यम से भी किया जाता है, पर वह प्रयोग बहुत ही अधूरा है। उसमें केवल कानून निर्धारित कुछ थोड़े-से भयावह समझे जाने वाले अपराधी ही पकड़े जा सकते हैं। उसमें भी ६० प्रतिशत दंड पाने से बचे रहते हैं। छुटपुट वैयक्तिक अनाचारों के विरुद्ध कोई कानून नहीं, उन्हें तो तभी रोका जा सकता है, जब अन्य लोग अपने नैतिक बल, दबाव, भर्त्सना, निंदा, प्रतिरोध, असहयोग आदि द्वारा उसे रोकें। यदि अन्य लोग उपेक्षा करें, “हमें अपने काम—हमें दूसरों से क्या मतलब” की नीति लेकर अनाचार के प्रति जो समाज उपेक्षा बरतता है, वह वस्तुतः अपना कर्तव्य पालन न करने का, उपेक्षा बरतकर अपराधों को बढ़ाने में सहायता करने का अपराधी होता है और उसे समयानुसार ईश्वरीय दंड मिलता है।

लोग शताब्दियों से विकृत दृष्टिकोण लेकर जीवन जी रहे हैं। फलस्वरूप सामाजिक परंपरायें भी भ्रष्ट होती चली आ रही हैं।

भावनात्मक और क्रियात्मक अवसाद व्यापक पतन का रूप धारण कर मानव जाति को दानवीय स्तर तक घसीटा चला आया है और अब उसकी प्रतिक्रिया इतनी भयावह हो गई है कि हर व्यक्ति सुख-शांति गँवा बैठा है। उत्साह और उल्लास के कारण समाप्त हो गये। जिधर देखें उधर अविश्वास और छल-छिद्रों से, अनैतिकता और दुर्भावना से सारा वातावरण दुर्गंधित हुआ दीखता है। फलस्वरूप लोग नारकीय परिस्थिति में रहने का, रोग-शोक, क्लेश-कलह, दुःख-दारिद्र्य, उद्वेग, संताप भी परिस्थितियों का कटु अनुभव कर रहे हैं। फिर भी मानव-जाति चेती नहीं, अनाचार को बढ़ने न देने का सामूहिक उत्तरदायित्व संभाला नहीं, अपने मतलब से मतलब रखने की घृणित संकीर्णता अपनाकर लोग पड़ौस में घटने वाली दुर्घटनाओं, अनीति और प्रवंचनाओं की ओर से आँखें मैंदे, मुँह मोड़े बैठे रहे।

ईश्वर की दृष्टि में यह महान् पातक है। पातकी को दंड देने की वह अपनी नीति सदा से सुस्थिर रखे हुए है। मनुष्य में परस्पर मिल-जुलकर काम करने की उसने विशेषता उत्पन्न की है। उसी के बल पर वह बोलने, लिखने, सोचने, उपार्जन करने, सुख-साधन उपलब्ध करने के लाभ ले सका है। यह विशेषता न मिली होती तो वह भी जंगली जानवरों की तरह एकाकी, अभावग्रस्त, निकृष्ट जीवन जी रहा होता। सामूहिक सहयोग ही वह विशेषता है, जिसके आधार पर मानव समाज आगे बढ़ा, ऊपर चढ़ा। इस ईश्वर प्रदत्त महान् वरदान का उपयोग भौतिक सुविधाओं के कमाने तक ही सीमित रखा जाए, यह उचित नहीं। इसके साथ-साथ एक नैतिक उत्तरदायित्व यह भी जुड़ा हुआ है कि एक-दूसरे को सन्मार्ग पर चलने की, कुमार्ग पर बढ़ने से रोकने की जिम्मेदारी उठायें।

अनाचार का बढ़ना तभी संभव होता है, जब दूसरे लोग उसे सहन करते हैं अथवा रोकने में उपेक्षा बरतते हैं। दुष्टता को प्रोत्साहन उसी आधार पर मिलता है। स्वार्थपरता-संकीर्णता और कायरता अनीति की जननी है। देखने में यह दोनों बातें

साधारण-सी लगती हैं, पर वस्तुतः अनीति की जननी यही है। कानून की दृष्टि में जिस प्रकार हत्या, लूट, डकैती, बलात्कार आदि दंडनीय अपराध हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से, ईश्वरीय कानून की दृष्टि से संकीर्ण स्वार्थपरता तक सीमित रहना और सामाजिक उत्तरदायित्वों की उपेक्षा करना भी एक भयावह पाप है। लोगों की इन्हीं दुष्प्रवृत्तियों के कारण व्यक्ति और समाज का पतन होता है और फिर सभी को इसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। पिछले दिनों यहीं होता रहा है। दुर्बुद्धि बढ़ती रहीं हैं, समाज कुमारगामी होता रहा है। शेष लोग चुपचाप अपने खिलों में बैठे-बैठे दिन गुजारते और तमाशा देखते रहे हैं। छोटे-बड़े प्रतिरोधों द्वारा रोकने के लिए जो प्रयत्न किया जा सकता था वह नहीं हुआ है।

जिन्हें प्रतिभा उपलब्ध थी उन्हें समाज को संगठित कर अनीति का प्रतिरोध करना चाहिए था, पर उन्होंने भी वैसा कुछ नहीं किया। तथाकथित संत, महंत, सिद्ध, भक्त, धनी, विद्वान् और कलाकार बहुत हुए हैं, पर वे अपनी शक्ति बुद्धि-कौशल दिखाने और अपनी प्रतिभा को चमकाने में ही संतुष्ट रहे हैं। व्यक्ति और समाज की बढ़ती हुई दुष्प्रवृत्तियों का नियंत्रण महान् आत्माओं का यही एकमात्र पवित्र कर्तव्य है। इस दृष्टि से लगता है पिछली शताब्दियाँ अभावग्रस्त और असफल रहीं। उन्होंने इस स्तर की महान् आत्माएँ नहीं के बराबर उगाई। जो उत्पन्न हुई, वे इतनी कम हैं कि उन्हें उँगलियों पर गिने जाने लायक अपवाद ही समझा जा सकता है।

ईश्वरीय दृष्टि में यही महानतम पातक हैं। जो समाज अपने भीतर सुधारक और संघर्षशील नेता उत्पन्न नहीं कर सकता वह बंध्या है। शताब्दियों से यह कलंक हमारे समाज के मुँह पर पुता है। इस अनुत्पादन ने ही सुख व शांति का दुर्भिक्ष पैदा कर दिया, अब उसका दंड-प्रतिफल सबको भोगना पड़ रहा है। शास्त्रों के द्वारा, अंतःकरण की पुकार के द्वारा ईश्वर हर व्यक्ति को उसके कर्तव्यों का उदबोधन देता रहता है, पर जिन्होंने उपेक्षा और अवज्ञा-

करना ही ठान लिया हो, उनके लिये दंड के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही कौन-सा शेष रह जाता है ?

अगले दिन विश्व संकट की भयावह संभावनाओं से भरपूर है। उनमें अनेक अप्रत्याशित विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़ेंगे और कुचल-कुचल कर मनुष्य को यह शिक्षा देंगे कि उसे सुख-सुविधाएँ उपलब्ध कर वासना और तृष्णा संकुलित घृणित जीवन जीने में ही मदमस्त नहीं रहना चाहिए, सामाजिक उत्कृष्टता को स्थिर रखने के लिए पुरुषार्थ करते रहने के अपने महान् कर्तव्य को भी ध्यान में रखना ही चाहिए। इस तथ्य की उपेक्षा करके संसार को वर्तमान दुर्गति तक पहुँचा देने की जिम्मेदारी हम सबकी है। इसलिए उस पाप का प्रायशिच्चत भी सामूहिक रूप से करना होगा। दैवी विपत्तियों के मर्मभेदी प्रहार हम सबको इसी कारण सहने के लिए विवश होना पड़ेगा।

दूरदर्शी तत्त्ववेत्ताओं ने सूक्ष्म जगत् में बन रही संभावनाओं का पूर्वाभास पाया है और उसकी पूर्व सूचना अपनी भविष्यवाणियों में दी है। ईसाई धर्म के अध्यात्मवेत्ताओं ने 'सेविन टाइम्स' की चर्चा करते हुए सन् २००० के लगभग प्रलयंकर परिस्थितियाँ उत्पन्न होने का संकेत दिया है। मुसलमान धर्म में १४वीं सदी के बाद क्यामत की सदी कहकर पुकारी गयी है। हिजरी सन् के हिसाब से १४२० वर्ष बीत गये हैं। हिंदू धर्म के अगणित तत्त्वदर्शियों ने इस संबंध में विविध ग्रंथों में लिखा है। अंतर्राष्ट्रीय युद्ध साधनों और दाव-घातों के क्रम को देखते हुए सूक्ष्मदर्शी राजनीतिज्ञों को भी यही आशंका है कि इस शताब्दी के दो रोमांचकारी महायुद्ध चंडी की रक्त-पिपासा नहीं, बुझा सके, अब एक सर्वनाशी तीसरा महायुद्ध होगा और वह अंतिम युद्ध होगा। इसके बाद न किसी में लड़ने की शक्ति रह जायेगी और न उत्सुकता।

अक्टूबर ६७ की 'अखंड ज्योति' में महाकाल की इस विनाश लीला का कारण, आधार तथा माध्यम और भी अधिक विस्तार पूर्वक बताया गया था। उसमें कहा गया था—युद्ध ही एकमात्र

महाकाल का दंड माध्यम नहीं, वरन् और अनेक आधार हैं। रक्तपात के लिये युद्ध मोर्चे पर होने वाला घमासान ही नहीं—गृह युद्ध भी ऐसा आधार है, जिसके फलस्वरूप उससे भी भयानक लोक-संताप उत्पन्न हो सकता है। पिछले दो युद्धों में करोड़ों लोग मारे गये और घायल हुए। इस बीच रूस, चीन जैसे कम्युनिस्ट देशों में आंतरिक संघर्ष में—साम्यवादी सिद्धांत स्वीकार न करने के अपराध में करोड़ों लोगों का वध कर दिया गया था। विगत वर्षों में इंडोनेशियाई उथल-पुथल में लगभग ५० लाख नागरिकों के मारे जाने का अनुमान लगाया गया था।

एक स्थान पर लड़े जाने वाला विश्व युद्ध तो अभी नहीं छिड़ा, पर पिछले दिनों काँगो, भारत, पाकिस्तान, तिब्बत, इंडोनेशिया वियतनाम, मिस्र, इजराइल आदि से जो संघर्ष हुए हैं, उनमें विश्व युद्ध की भूमिका मौजूद है। छुटपुट बहुत लड़ाइयाँ मिलकर भी संसार में विश्व युद्ध जैसा संकट ही पैदा कर सकती हैं। देश में अराजकता अनेक स्तरों पर देखी जा सकती है और उसमें होने वाली हानि का भयावह अनुमान लगाया जायेगा। संसार के अन्य भागों में भी ऐसी ही उथल-पुथल है। यह विभीषिका आगे और भी बढ़ सकती है और जनसंहार की संभावनाओं को प्रत्यक्ष कर सकती है। रक्तपात के अतिरिक्त दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, दुर्घटनाएँ, बढ़ते हुए अपराध वे आधार हैं, जिनसे मनुष्य जाति के सामने भयावह संभावनाएँ उपस्थित हों।

इन विभीषिकाओं को एक कौतूहल मात्र न समझना चाहिए और न यह सोचना चाहिए कि उन्हें देखने में बड़ा मजा आयेगा। यह विपत्ति हमारे और हमारे परिजनों पर आ सकती है। इसलिए समय रहते हमें वे उपाय करने चाहिए, जिनसे भावी विपत्तियों से बचाव हो सके। यह हो सकता है। यदि हम महाकाल के प्रयोजन को समझें और जिस उद्देश्य से वे विपत्ति का दंड विधान रच रहे हैं, उस उद्देश्य को समझकर समय रहते उसी की पूर्ति में लग

जावें तो हम अपना, अपने संसार का ही नहीं परमेश्वर का भी एक बड़ा बोझ हलका कर सकते हैं।

परिस्थितियाँ हर प्रबुद्ध व्यक्ति को सचेत करती हैं कि अपनी गतिविधियों को बदलें। अपने महान् मानवीय उत्तरदायित्वों को समझें और व्यक्तिगत सुख-सुविधाएँ बढ़ाने की संकीर्णता में उलझे न रहकर, इस आपत्ति काल में विश्व मंगल के लिए योगदान करने की महानता अपनायें। यह सुनिश्चित है कि अगले लगभग तीस वर्षों में वैयक्तिक संपत्ति नामक कोई चीज़ न रह जायेगी। जमीन, जायदाद, मकान, जेवर एवं नोट किसी व्यक्ति के स्वामित्व में न रहेंगे, वरन् वे सार्वजनिक संपत्ति बन जायेंगे। हर व्यक्ति श्रम करेगा और जीवन के आवश्यक साधन प्राप्त करने का अधिकारी रहेगा। इन संभावनाओं के बीच दौलत को बेटे-पोतों के लिए जोड़ने, जमा करने की हविस में किसी को भी अपना मूल्यवान् समय नष्ट नहीं करना चाहिए। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ बढ़ाना और उनकी पूर्ति के लिए सिर फोड़ते रहना अगले दिनों मूर्खतापूर्ण ढर्डा सिद्ध होगा। जो विवश होकर किया जाने वाला है, वह हमें स्वेच्छापूर्वक अभी से कर लेना चाहिए। पेट भरने को मुट्ठीभर साधन जुटाने के अतिरिक्त हमें अपना सारा समय, सारा मस्तिष्क, सारा श्रम और सारा धन व्यक्ति और समाज को उत्कृष्ट बनाने के लिए नियोजित करना चाहिए। समय की माँग हर प्रबुद्ध व्यक्ति से अपने में ऐसा परिवर्तन करने की है, जो स्वयं बदल सकेगा वही युग को बदलने की भूमिका भी संपादित करेगा, जो स्वयं कीचड़ में झूबा हुआ खड़ा है, वह अन्य किसी को स्वच्छ कैसे करेगा ? युग परिवर्तन की इस पुण्य वेला में यदि हम अपनी आस्थाओं, कामनाओं और गतिविधियों को बदल डालें, तो समझना चाहिए कि युग परिवर्तन के एक महान् केंद्र स्वयं बन गये और अपने संपर्क में आने वालों में भी वह पुण्य-प्रक्रिया प्रचलित-प्रसारित होने लगेगी। यदि हमने अपने को तो बदला नहीं और दूसरों को उपदेश करने

का पांडित्य दिखाना जारी रखा, तो यह एक उपहासास्पद विडंबना होगी। परिणाम तो इसका हो ही क्या सकता है ?

भावी विपत्तियों का जो दंड विधान मानवीय गतिविधियों में परिवर्तन लाने के लिए बन रहा है, उसे रोकना एवं हलका करना संभव है। अतीत के सामाजिक पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए सबसे पहले हम स्वयं आगे बढ़ें तृष्णाओं और वासनाओं से छुटकारा पाकर आत्म-सुधार और लोक-कल्याण के लिए समय निकालें। अपनी गतिविधियाँ सुधारें और संसार-हित में नियोजित करें, तो सत्परिणाम निश्चित रूप से सामने आयेगा। पाप जितना घटेगा, सुधारात्मक प्रयोग जितना अधिक प्रखर होगा, उसी अनुपात से भावी विपत्तियाँ भी घटेंगी। यही सबसे बड़ा परमार्थ है। हम परमार्थी रीति-नीति अपनायें, संकीर्ण स्वार्थपरता की उपेक्षा कर नव-निर्माण के लिए अपना समर्पण करें, तो त्याग, बलिदान अन्य असंख्यों की विपत्ति निवारण करने का माध्यम बन सकता है।



परिवर्तन का केंद्र बिंदु—सद्ज्ञान

परिस्थितियों में परिवर्तन के लिए मनुष्य के विचारों और कार्यों में परिवर्तन होना आवश्यक है। भीतरी स्थिति का स्वरूप ही बाहर दृष्टिगोचर होता है। नशा पी लेने से जिस प्रकार शरीर की चेष्टाएँ और क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार संकीर्णता की निम्नगामी गतिविधियाँ अपना लेने पर मनुष्य कुविचारों और दुर्भावों को अपनाता है, फलस्वरूप जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, नाना प्रकार की कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ सामने आ खड़ी होती हैं। मनुष्यों का समूह ही समाज है। विभिन्न व्यक्तियों की दुष्प्रवृत्तियाँ मिलकर सामाजिक विपन्नताओं का रूप धारण करती हैं और उसी से सर्वत्र अशांति, क्लेश एवं पतन के नारकीय दृश्य उपस्थित होते हैं।

देश, समाज और संसार में जो कुछ भी अशुभ हमें दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण लोगों के व्यक्तिगत दोष ही होते हैं। उन दोषों का उद्भव दूषित दृष्टिकोण के कारण होता है। भोग प्रधान आकांक्षाएँ रखने से मनुष्यों की अतृप्ति बढ़ती जाती है, वे अधिक सुख-सामग्री चाहते हैं। श्रम से बचने और मौज-मजा करने की इच्छाएँ जब तीव्र हो उठती हैं, तो उचित-अनुचित का विचार छोड़कर लोग कुर्मार्ग पर चलकर ऐसे कर्म करने लगते हैं, जिनका परिणाम उनके स्वयं के लिए ही नहीं, सारे समाज के लिए घातक होता है। इस अदूरदर्शितापूर्ण प्रक्रिया को अपनाने से ही संसार में सर्वत्र दुख-दैन्य का विस्तार हुआ है।

विश्व शांति के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न होना केवल एक ही प्रकार संभव हो सकता है, कि मनुष्य भोग प्रधान नीति का परित्याग कर त्याग प्रधान दृष्टिकोण अपनाये। वासना और तृष्णा की तुच्छता अनुभव करे और तप, संयम और आदर्श का उत्कृष्ट जीवन बिताने में गर्व एवं गौरव का आनंद माने। जब तक वासनाओं और तृष्णाओं के तुच्छ प्रलोभनों में मनुष्य रस लेता रहेगा

और उन्हें ही जीवन का लक्ष्य मानता रहेगा, तब तक उसके द्वारा उन गतिविधियों का अपना सकना संभव न होगा, जिन पर स्वर्गीय वातावरण का विनिर्मित होना संभव होता है।

युग-परिवर्तन के लिए विपन्न परिस्थितियों को आनंद-मंगल के वातावरण में परिवर्तन करने के लिए हमने से प्रत्येक को अपने वास्तविक स्वरूप और जीवन के उद्देश्य को समझना आवश्यक है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के पश्चात् मनुष्य शरीर एक बार प्राप्त होता है। यह सुर दुर्लभ अलभ्य अवसर बार-बार कहाँ मिलता है ? यह असाधारण सौभाग्य इसलिए नहीं मिला है कि उसे साधारण जीव-जन्मुओं की भाँति खाने-सोने जैसे तुच्छ कार्यों में ही व्यतीत कर दिया जाये। यदि इस अलभ्य अवसर को शौक-मौज में ही गँवा दिया, तो यह अदूरदर्शिता उस समय बहुत ही दुख देती है, जब इन अमूल्य क्षणों को समाप्त कर हमें पुनः चौरासी लाख योनियों के चक्र में असंख्य वर्षों तक नारकीय यातनाएँ सहने के लिए विवश होना पड़ता है।

यह मनुष्य देह इसलिए प्राप्त होती है कि आत्मा अपने गौरव और महानता के उपयुक्त गतिविधियों अपनाकर स्वयं आनंद लाभ करे और दूसरों की सुख-शांति को बढ़ाए। वासना और तृष्णा के, लोभ और मोह के, काम और क्रोध के भव-बंधनों को काटकर जीवन मुकित के परमानंद का रसास्वादन कर सके। यदि संतुलित और सुव्यवस्थित जीवन-क्रम को अपनाते हुए मनुष्य अपनी गतिविधियों को संतुलित बना ले, तो उस लक्ष्य की पूर्ति कुछ भी कठिन नहीं है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य संत की स्थिति प्राप्त कर सकता है, गुजारे के लिए न्याय और श्रमपूर्ण आजीविका कमाते हुए परमार्थ का पुण्य लाभ हो सकता है। जीवन को ठीक प्रकार जीने की विद्या को यदि सीख लिया जाए, तो उस राजमार्ग पर चलते हुए लोक और परलोक दोनों ही प्रकार की सफलताएँ और समृद्धियाँ सामने प्रस्तुत हो सकती हैं।

युग-परिवर्तन के लिए मानवीय दृष्टिकोण में यह परिवर्तन होना आवश्यक है, जिसका उल्लेख उपरोक्त पंक्तियों में किया गया है। भोगपरक, भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाकर मनुष्य स्वार्थी, लोभी, आलसी, उतावला और असंतोषी बनता है। इन दोषों के कारण पाप और पतन भरे कुर्कम ही बन पड़ते हैं। इसलिए जीवन का दर्शन ऊँचा उठाया जाना आवश्यक है। पतित भावनाओं वाले व्यक्ति के लिए लांछना एवं आत्म-ग्लानि की व्यथा कष्टदायक नहीं होती, वह निर्लज्ज बना कुर्कम करता रहता है। लोक निंदा और परलोक का भी उसे भय नहीं होता। ऐसे लोगों से उन श्रेष्ठ कार्यों की आशा नहीं की जा सकती, जो विश्व शांति के लिए आवश्यक हैं। गंदी प्रकृति के मनुष्य गंदे मुहल्ले में, गंदे घरों में, दुर्गंधिपूर्ण जलवायु में, गंदे साधनों और गंदी परिस्थितियों में प्रसन्नतापूर्वक रह लेते हैं। पर जिसे स्वच्छता प्रिय है, वह गरीब होते हुए भी गंदगी स्वीकार न करेगा। इसी प्रकार जिनका दृष्टिकोण निकृष्ट है, उन्हें न लोक लज्जा की परवाह होती है और न आत्मग्लानि की। वे दुष्टतापूर्ण दुष्कर्म करते रहते हैं और इसी में अपना बड़प्पन मानते हैं। इस स्थिति का परिवर्तन करके धर्म, आत्म-गौरव और पुण्य-परमार्थ की महत्ता को अनुभव करने की कर्तव्य की मनोभूमि बना दी जानी चाहिए। जब लोक मानस का स्तर भावनात्मक दृष्टि से ऊँचा उठेगा, तो ही जीवन में श्रेष्ठता आयेगी और उसी के आधार पर विश्व शांति की मंगलमय परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी।

सत्कर्म अनायास नहीं बन पड़ते। उनके पीछे एक प्रबल दार्शनिक पृष्ठभूमि का होना आवश्यक है। सस्ती नामवरी लूटने के लिए या किसी आवेश में आकर कभी-कभी घटिया स्तर के लोग भी कुछ बड़े काम कर बैठते हैं, पर उनमें स्थिरता नहीं होती। यश कामना की पूर्ति भी हर घड़ी नहीं होती रह सकती, न आवेश ही स्थिर रखा जा सकता है। ऐसी दशा में निम्न मनोभूमि के लोग श्रेष्ठ कार्य भी निरंतर नहीं कर सकते। यदि जीवन में दो-चार बार ऊपरी मन से कुछ अच्छे काम कर दिये जायें और भीतर-ही-भीतर

दुष्प्रवृत्तियाँ काम करती रहें, तो जीवन में बुराइयाँ ही अधिक होती रहेंगी। सत्कर्मों का निरंतर होते रहना और कठिनाई आने पर भी दृढ़ बने रहना तभी संभव है, जब मनोभूमि को उत्कृष्ट स्तर पर विकसित एवं परिपक्व किया जाये। श्रेष्ठ कार्यों और श्रेष्ठ परिस्थितियों से परिपूर्ण वातावरण इन्हीं परिस्थितियों में बन सकता है।

घृणा, द्वेष, निराशा, चिंता, विक्षोभ, आवेश में आकर कई बार मनुष्य दुस्साहसपूर्ण कार्य कर डालते हैं। लोभ और मोह के वशीभूत मनुष्य भी कभी-कभी प्राणों की बाजी लगा डालते हैं, पर वे कार्य होते निकृष्ट कोटि के पापपूर्ण ही हैं। प्रतिशोध, हत्या, फौजदारी, आत्महत्या, घर छोड़कर भाग निकलना, अपना सब कुछ लुटा देना, जैसे उद्घृत कार्य आवेशग्रस्त लोग करते देखे गये हैं, पर उनका लक्ष्य दूसरों को परेशान करना ही होता है। द्वेषवश ही ऐसे कदम उठाये जा सकते हैं और उनका प्रतिफल अपने एवं दूसरों के लिए हानिकारक ही होता है।

संसार में शांति और श्रेष्ठता उत्पन्न करने के लिए त्यागपूर्ण, श्रेष्ठ आदर्श प्रस्तुत करने वाले साहसपूर्ण बड़े काम करने की आवश्यकता रहती है। उनकी संभावना तभी बनती है जब व्यक्ति का उद्देश्य उच्च कोटि के आदर्शवाद की प्रेरणाओं से ओत-न्रोत बन सके।

हरिश्चंद्र, शिवि, दधीच, मोरध्वज, भरत, हनुमान, कर्ण, श्रवणकुमार, शंकराचार्य, गुरु गोविंदसिंह, लक्ष्मीबाई, एकलव्य, गाँधी, बुद्ध, शिवाजी, प्रताप, सुभाष, भगतसिंह, आदि जिन महापुरुषों के नाम उत्कृष्ट कार्यों के कारण इतिहास के पृष्ठों पर अमर हैं, उन्होंने अपनी मनोभूमि को आदर्शवादी विचारधारा से परिपक्व किया था, तभी वे इतने बड़े कदम उठा सके। ऋषि-मुनियों के, वानप्रस्थ और संन्यासियों के जीवन लोक साधना में ही संलग्न होते थे, पर यह सब हो तभी पाता था, जब वे प्रयत्नपूर्वक अपना

भावना स्तर उच्च आदर्शों के आधार पर ढालने के लिए आध्यात्मिक जीवन दर्शन को गहराई तक हृदयंगम कर लेते थे।

हम चाहते हैं कि संसार में सुख-शांति रहे। इसके लिए एक ही उपाय है कि लोग दुष्कर्मों को छोड़कर निरंतर सत्कर्म करते रहने के अभ्यस्त बनें। यह कदम तभी उठ सकेगा जब जीवन-दर्शन बदले। निकृष्ट आदर्शों का परित्याग कर लोग उच्च आदर्शों के प्रति निष्ठावान् बनें। श्रेष्ठ विचारधाराओं को जन मानस में गहराई तक प्रवेश करा देने से ही यह सब संभव होगा। इसलिए युग-निर्माण का आधार एक ही, केवल एक ही है कि हम अपनी और अपने समीपवर्ती लोगों की भावनाओं का स्तर ऊँचा उठायें। आसुरी संपत्तियों से धृणा करें और दैवी संपदाएँ बढ़ाने के लिए उत्साहपूर्वक कटिबद्ध हों।

जीवन का दर्शन उद्देश्य-लक्ष्य बदलने से ही दुष्टता का परिवर्तन श्रेष्ठता के रूप में हो सकेगा। इसलिए उच्च विचारधारा की जो न्यूनता सर्वत्र दिखाई पड़ती है, उसकी पूर्ति के लिए प्रबंध करना होगा। दुर्भिक्ष पीड़ितों के प्राण अन्न की व्यवस्था होने से ही बचते हैं। सद्भावनाओं का दुर्भिक्ष पड़ने से आज सर्वत्र हाहाकारी दृश्य उपस्थित हो रहे हैं, इन्हें बदलना तभी संभव है, जब उच्च विचार धाराओं की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक वातावरण बनाया जाये। हमें यही तो करना है। इसी संजीवनी बूटी से मूर्छित समाज की मोह निद्रा टूटेगी।

सुख-सुविधा की साधन-सामग्री बढ़ाकर संसार में सुख-शांति और प्रगति होने की बात सोची जा रही है और उसी के लिए सब कुछ किया जा रहा है। पर साथ ही हमें यह भी सोच लेना चाहिए कि समृद्धि तभी उपयोगी हो सकती है, जब उसके साथ-साथ भावना स्तर भी ऊँचा उठता चले। यदि भावनाएँ निकृष्ट स्तर की रहें, तो बढ़ी हुई संपत्ति उलटी विपत्ति का रूप धारण करती है। दुर्बुद्धिग्रस्त मनुष्य अधिक धन पाकर उसका उपयोग अपने दोष-दुर्गुण बढ़ाने में ही करते हैं। जुआ, नशेबाजी, व्यसन, व्यभिचार,

आडंबर आदि की बढ़ोत्तरी खाते-पीते मूर्खों में ही होती है। गरीबों को इसकी सुविधा ही नहीं मिलती।

संपन्न लोगों का जीवन निर्धनों की अपेक्षा कलुषित होता है, उसके विपरीत प्राचीन काल में ऋषियों ने अपने जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया था कि गरीबी की जीवन-व्यवस्था में भी उत्कृष्ट जीवन जिया जा सकना संभव हो सकता है। यहाँ संपन्नता एवं समृद्धि का विरोध नहीं किया जा रहा है, हमारा प्रयोजन केवल इतना ही है कि भावना स्तर ऊँचा उठने के साथ-साथ समृद्धि बढ़ेगी, तो उसका सदुपयोग होगा और तभी उससे व्यक्ति एवं समाज की सुख-शांति बढ़ेगी। भावना स्तर की उपेक्षा करके यदि संपत्ति पर ही जोर दिया जाता रहा, तो दुर्गुणी लोग उस बढ़ोत्तरी का उपयोग विनाश के लिए ही करेंगे। बंदर के हाथ में गई हुई तलवार किसी का क्या हित साधन कर सकेगी ?

सन्मार्ग पर चलने वाली प्रेरणा देने वाली विद्या एवं आदर्श के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने वाला ज्ञान मानव जीवन की सच्ची संपत्ति है। इसी को बढ़ाने में शोक-संतारों से छुटकारा मिल सकना संभव होगा। भौतिक समृद्धियाँ बढ़ाने में बहुत लोग लगे हैं और उसकी दिशा में बहुत कुछ किया भी जा रहा है। कुछ व्यक्ति जीवन की सर्वोपरि संपत्ति सद्भावनाओं को उपजाने और बढ़ाने में भी लगाने चाहिए। अन्न का दुर्भिक्ष पड़ जाने पर लोग पते और छालें खाकर जीवित रह लेते हैं, पर भावनाओं का दुर्भिक्ष पड़ने पर यहाँ नारकीय व्यथा वेदनाओं के अतिरिक्त और कुछ शेष ही नहीं रह जाता। इस आहार के अभाव में मनुष्य का अंतःकरण मूर्च्छित और मृतक बन जाता है। ऐसे लोगों की तुलना प्रेत, पिशाच, असुर, राक्षस एवं हिरण्य-पशुओं से ही की जा सकती है। वे नृशंस और जघन्य कृत्य ही कर सकते हैं। भूखों मर जाने में उतनी हानि नहीं, जितनी नीरस/और निष्ठुर, मूर्च्छित और मृतक अंतःकरण बनने पर होती है।

मानव जाति को विनाश के गर्त में गिरने से बचाने के लिए एकमात्र उपाय यही रह जाता है कि सद्भावनाओं को बढ़ाने के लिए, सत्त्ववृत्तियों को विकसित करने के लिए ठोस और व्यापक आधार पर एक सुव्यवस्थित कार्यक्रम बनाया जाये और उसे पूरी शक्ति और तत्परता के साथ कार्यान्वित किया जाये। युग-निर्माण योजना इसी प्रकार का प्रयत्न है।

लोकमानस में सद्ज्ञान की प्रतिष्ठापना करने का कार्य हमें अपने व्यक्तिगत जीवन में सुधार एवं परिवर्तन करके ही संपन्न करना होगा। प्रवचन और लेख इस कार्य में सहायक तो हो सकते हैं, पर केवल उन्हीं के आधार पर अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति संभव नहीं। दूसरों पर वास्तविक प्रभाव डालने के लिए हमें अपना अनुकरणीय आदर्श उनके सामने उपस्थित करना होगा। संसार में बुराइयाँ इसलिए बढ़ रही हैं कि बुरे आदमी अपने बुरे आचरणों द्वारा दूसरों को ठोस शिक्षण देते हैं। उन्हें देखकर यह अनुमान लगा लिया जाता है कि इस कार्य पर इनकी गहरी निष्ठा है। जुआरी जुआ खेलते हुए भारी हानि उठाने को तैयार रहते हैं। नशेबाज अपना स्वास्थ्य होम देते हैं। व्यभिचारी अपने धन और प्रतिष्ठा से हाथ धोते हैं, चोर-डाकू राजदंड का त्रास भोगते हैं। इसी प्रकार अन्य बुरे लोग भी भारी खतरे उठाकर भी अपने प्रिय विषय में संलग्न रहते हैं। यही निष्ठा दूसरों पर प्रभाव डालती है और देखा-देखी अन्य व्यक्ति उनका अनुकरण करने लगते हैं।

सदविचारों के प्रचारक वैसे उदाहरण अपने जीवन में प्रस्तुत नहीं कर पाते। वे कहते तो बहुत कुछ हैं, पर ऐसा कुछ नहीं करते, जिससे उनकी निष्ठा की सचाई प्रतीत हो। प्राचीन-काल में साधु-ब्राह्मण धर्मोपदेश करने से पूर्व अपना जीवन उसी प्रकार का बनाते थे, जिससे संपर्क में आने वालों को उनकी निष्ठा की गहराई का पता चल जाये और वे यथासंभव अनुकरण का प्रयत्न करते हुए अपनी बुराइयों को छोड़ने के

लिए अंतप्रेरणा विकसित कर सकें। बुराई त्यागने और अच्छाई ग्रहण करने का कठिन कदम कोई तब उठाता है, जब वैसे ही दूसरे उदाहरण भी सामने उपस्थित हों और उनसे आवश्यक प्रेरणा प्राप्त हो। गाँधी जी, बुद्ध, ईसा के उपदेशों ने संसार में बहुत काम किया है, पर उनके प्रवचनों के पीछे उनका उज्ज्वल चरित्र भी प्रकाशवान् था।

हमें अपने आपका सुधार करने का कार्यक्रम आरंभ करते हुए, लोक सेवा की महान् प्रक्रिया का आरंभ करना होगा। युग परिवर्तन का पहला कार्य है—अपना परिवर्तन। हम बदलेंगे तो हमारी दुनिया भी बदलेगी। शुभ कार्य अपने घर से आरंभ होते हैं। समाज सुधारने के लिए, संसार को सुधारने के लिए, हमें अपना व्यक्तिगत जीवन सुधारने के लिए अग्रसर होना होगा।



असुरता से देवत्व की ओर

असुर, मनुष्य और देवता देखने में एक ही आकृति के होते हैं, अंतर उनकी प्रकृति में होता है। असुर वे हैं, जो अपना छोटा स्वार्थ साधने के लिए दूसरों का बड़े से बड़ा अहित कर सकते हैं। मनुष्य वे हैं, जो अपना स्वार्थ तो साधते हैं, पर उचित-अनुचित का ध्यान रखते हैं, पाप से डरते और अपनी नियत मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते। देव वे हैं, जो अपने अधिकारों को भूलकर कर्तव्यपालन का ही स्मरण रखते हैं। अपनी शक्तियों को परमार्थ और परोपकार में अधिक व्यय करते हैं और इसी में अपना सच्चा स्वार्थ साधन मानते हैं। असुरों के दृष्टिकोण में दुष्टता, मनुष्यों में मर्यादा एवं देवताओं में उदारता भरी रहती है। दृष्टिकोण के इस अंतर के कारण ही उनके बुरे-भले कार्यों की भूखला सामने आती और उसी आधार पर वे निंदा-प्रशंसा के पात्र बनते हैं। सद्गति और दुर्गति भी इन्हीं के आधारों पर होती है।

आज असुरता का साम्राज्य चारों ओर फैला है। सोचने का आम तरीका यह बनता जाता है कि अपना लाभ बढ़ाने में दूसरों का कितना ही बड़ा अहित क्यों न होता हो, उसकी परवाह न करनी चाहिए और जैसे भी बने वैसे अपना स्वार्थ साध लेना चाहिए। असुर होने का यही लक्षण है। लंबे सींग, बड़े दाँत और काले चेहरे वाले राक्षस चित्रकारों की कल्पना का अलंकारिक चमत्कार मात्र है, वस्तुतः शकल-सूरत में असुर भी मानव प्राणियों जैसे ही होते हैं और उनकी शकल-सूरत भी हमसे मिलती- जुलती ही होती है। अविचारपूर्वक स्वार्थ साधने की पशुता के प्रतीक रूप में, परपीड़न की बुराई के रूप में सींग लगाये गये हैं। अपना पेट भरने के लिए बहुत जल्दी बहुत कुछ उदरस्थ कर जाने की तृष्णा और लालसा के प्रतीक बड़े-बड़े दात हिंसक पशुओं जैसे बनाये गये हैं और चूँकि आसुरी प्रवृत्ति वालों का जीवन कलंक कालिमा से कलुषित बना होता है, इसलिए उनका चेहरा काला चित्रित किया

जाता है। यह चित्रण उनकी आंतरिक स्थिति का अलंकारिक प्रदर्शन मात्र है। कलेवर तो सभी मनुष्यों का एक-सा होता है। कई बार असुर लोग रंग-रूप में और भी सुंदर लगते हैं। व्यभिचारी और व्यभिचारिणी नर-नारी सदाचारी लोगों की अपेक्षा प्रायः अधिक रूपवान् देखे जाते हैं। ठगों की वेशभूषा सज्जनों से बढ़कर होती है। धूर्तों के भाषण में अधिक मिटास रहती है। बाह्य आवरण की दृष्टि से असुर अधिक सुंदर भी दीख पड़ सकते हैं। चित्रकार ने वह भयंकर रूप उनकी आंतरिक स्थिति के दिग्दर्शन के रूप में ही किया है।

असुरता के लक्षण विशाल परिमाण में बढ़ते और पनपते देखे जा सकते हैं। मांसाहार की प्रवृत्ति दिन-दिन बढ़ रही है। पहले जितनी धृणा इस संबंध में लोगों को थी, अब उतनी कहाँ है ? जो नहीं खाते, वे भी उससे धृणा नहीं करते हैं। मछली का तेल तथा पशु-पक्षियों के अंग-प्रत्यंग चीर-फाड़कर बनाई हुई औषधियों का आज डॉक्टरों की दुकान में बाहुल्य है। लोग बिना संकोच उन्हें खाते-पीते हैं। इन वस्तुओं को प्राप्त करने में दूसरे प्राणियों को कितनी मर्मांतक पीड़ा सहन करनी पड़ती है, इसका विचार भी लोगों को नहीं आता। हमारी स्वयं की हत्या इसी प्रकार इन्हीं प्रयोजनों के लिए कदाचित् दूसरे प्राणी करने लगते, तो हम पर कैसी बीतती ? इसका ध्यान तक लोगों को नहीं आता। निर्दर्यता और निष्टुरता की पाषण मूर्ति बनकर दूसरों का मांस खाते-पीते जिन्हें झिझक नहीं होती, उनकी प्रवृत्तियों को किस संज्ञा में गिना जा सकता है ?

जालसाजी और ठग विद्या एक प्रकार से चतुरता और बुद्धिमत्ता का अंग बनती चली जा रही हैं, व्यापार में धोखेबाजी का समन्वय अब एक आम बात बन रहा है। कहना कुछ, दिखाना कुछ, देना कुछ, यह तीन तरह का व्यवहार करना दुकानदारों की एक आम नीति है। खाद्य-पदार्थों और औषधियों तक में जो धृणित प्रकार की मिलावटें होती हैं, उससे उपभोक्ताओं का स्वास्थ्य चौपट

होता है। इसकी परवाह किए बिना व्यापारी निधंडक अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं। न्याय की रक्षा के लिए बने हुए न्यायालयों के कर्मचारी किस प्रकार रिश्वत में अन्याय को प्रश्रय दिये हुए हैं, यह किससे छिपा है ? पुलिस, रेलवे, कंट्रोल आदि विभिन्न सरकारी विभागों में कितनी रिश्वत चलती है, उसकी चर्चा करने में कुछ लाभ नहीं।

नौकर और मालिक के बीच पिता-पुत्र का संबंध आज कहाँ है ? मजदूर की दृष्टि कम से कम काम करने और अधिक कमाने और जहाँ घात लगे चोरी करने पर रहती है। मालिक का रिश्ता मजदूर से किसी मशीन के समान काम ले लेने मात्र का रहता है। उसके दुख-दर्द में हिस्सेदार बनाने की, अपनी प्रगति और मुनाफा में उन्हें भागीदार बनने की इच्छा उन्हें नहीं होती। मित्र-मित्र के बीच स्वार्थ-साधन की शतरंज-चाल चली जाती रहती है। शत्रु और उदासीन को ठगना कठिन होता है, मित्र बनकर आसानी से विश्वासघात किया जा सकता है। इस दृष्टि से अब मित्रता भी विश्वासघात और धूर्तों की एक चाल बनती चली जा रही है। तोते की तरह लोग तभी तक मित्रता रखते हैं, जब तक स्वार्थ सधता है, उसमें कमी आते ही आँखें बदल जाती हैं और जब दीखता है कि मित्र तंगी में आया और कुछ सहायता करनी पड़ सकती है, तो लोग तुरंत आँखें फेर लेते हैं। घर-परिवार में भी यही नीति बरती जाती है। पिता-माता तभी तक अच्छे लगते हैं जब तक वे कमाते और खिलाते हैं, जब वे अशक्त हो जाते हैं, तो भार रूप लगते हैं। उनके मरने की, खर्च घटने की मनौती मानी जाती है।

दूसरों का धन, दूसरों का शील, सतीत्व हरण करने के लिए घात लगाये बैठे रहते हैं और जब-जिसे-जहाँ अवसर मिलता है— अपना दाँव चलाने में चूकता नहीं। दूसरे की कठिनाइयों और परिस्थितियों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार की क्षमता घटती जा रही है। यह सोचना लोग छोड़ते चले जा रहे हैं, कि दूसरों की

परिस्थितियों में निष्ठुरता पनपे और मनुष्य पापी, अपराधी एवं दुष्ट बनता चला जाए तो आश्चर्य की क्या बात है ?

व्यापक बुराइयों की अधिक चर्चा करने से कुछ लाभ नहीं। वस्तुस्थिति को हम सब जानते ही हैं, इस चर्चा से चित्त में क्षोभ और संताप ही उत्पन्न होता है। यों भले मनुष्यों का भी अभाव नहीं है वे प्रत्येक क्षेत्र में, बदनाम क्षेत्रों में भी मौजूद रहते हैं, पर उनकी संख्या नगण्य है। असुरता का व्यापक विस्तार अपने कैसे कहुए और विषेले प्रतिफल उत्पन्न कर रहा है, सो सामने प्रस्तुत ही है। सर्वत्र अशांति, असंतोष, विक्षोभ, संताप, द्वेष, क्लेश, रोग, शोक, दैन्य, अभाव एवं संघर्ष का उद्गेग भरा वातावरण मौजूद है। कहीं भी शांति नहीं, किधर भी चैन नहीं, जो प्रगति हम करते जाते हैं, वही विपत्ति बनकर गले में फाँसी के फंदे की तरह जकड़ती चली जाती है। विज्ञान की उन्नति ने एटम युग लाकर हमें खड़ा कर दिया है, जहाँ मानव सभ्यता सर्वनाश के कगार पर खड़ी-खड़ी त्राहि-त्राहि पुकार रही है।

प्रश्न यह है कि क्या इस बढ़ती हुई असुरता को इसी रूप में बढ़ने दिया जाये और सर्वनाश की घड़ी के लिये निष्क्रिय रूप से प्रतीक्षा करते रहा जाए ? अथवा स्थिति को सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न किया जाए ? विवेक, कर्तव्य-धर्म और पुरुषार्थ की चुनौती यह है कि निष्क्रियता उचित नहीं। शांति का संतुलन बनाये रखने के लिए, धर्म और कल्याण की रक्षा के लिए हमें कुछ करना ही चाहिए। जिस दिशा में अपने कदम अब तक तेजी से बढ़ते चले जा रहे हैं, उसी सर्वनाश की ओर अब इस दौड़ को बंद किया ही जाना चाहिए। असुरता के विरुद्ध विवेक की इसी प्रतिक्रिया का नाम है—“युग निर्माण योजना।”

प्रस्तुत योजना के अंतर्गत हमें मानव जीवन का उद्देश्य, आदर्श, तत्त्व ज्ञान और व्यवहार सीखना पड़ेगा। फूहड़पन से जिंदगी जीना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं। चौरासी लाख योनियों में करोड़ों वर्षों बाद मिले हुए इस अलम्य अवसर को यों ही

गंदे-संदे ढंग से जी डालना, यह भी कोई समझदारी की बात है ? जब थोड़ी भी उपयोगी और कीमती चीजों को संभालकर रखने और ठीक उपयोग करने की बात सोची जाती है, तो मानव जीवन जैसे सुर दुर्लभ अवसर को ऐसी उपेक्षा अस्त-व्यस्तता के साथ क्यों जिया जाना चाहिए ? उचित यही है कि हम जीवन विद्या को सीखें और जिंदगी का स्वरूप समझने और उसके सदुपयोग का प्रयत्न करें।

असुरता का व्यापक साम्राज्यवाद अब हटना ही चाहिए। देवत्व की ओर बढ़ने के लिए हमें मानवता को तो अपनाना ही पड़ेगा। दृष्टिकोण में इतना परिवर्तन होना तो आवश्यक ही है कि हमारे स्वार्थों की सीमा अत्यंत संकुचित न रहकर, उनका क्षेत्र कुछ बड़ा और विस्तृत हो। हम तृष्णा और वासना के, लोभ और मोह के, काम और क्रोध के ही बंधनों में जकड़े न पड़े रहें, वरन् धर्म और कर्तव्य का, आध्यात्मिक स्वतंत्रता का भी कुछ आस्वादन करें। बंधन से मुक्ति की ओर बढ़ने का एक ही मार्ग तो है कि संकुचित स्वार्थों की संकीर्णता की कीचड़ से अपने आपको निकालने का प्रयत्न करें। मानवता की निर्मल सुरसरी में अपने मल आवरण और विक्षेपों को धोयें और उस दिशा में कदम बढ़ाएँ, जिधर देवत्व का मंगलमयी मलय मारुत प्रवाहित होता है। असुरता से मानवीय चेतना को विमुख करके देवत्व की ओर उन्मुख करना यही युग निर्माण योजना है, इसी को जीवन विद्या या संजीवनी विद्या कह सकते हैं।

दृष्टिकोण का परिवर्तन ही व्यक्ति परिवर्तन कहा जाता है। बाहरी कामों, व्यवस्थाओं, गतिविधियों को, परिस्थितियों को तो बलपूर्वक भी बदला जा सकता है। भय, दंड या प्रलोभन के वशीभूत होकर लोग वह कार्य करते हैं, जो वस्तुतः उन्हें करने नहीं होते। दिखावट, ढोंग, लोक लाज या दबाव से कितने ही कार्य संसार में अनिच्छापूर्वक भी होते रहते हैं, पर उनमें कोई स्थायित्व नहीं होता। सरकारी कानून, सामाजिक प्रतिबंधों या भावुकता को

उभारकर जोश, आवेश में बुराइयों की रोकथाम की जा सकती है, किंतु होती वह अस्थायी ही है। बाहरी दबाव जैसे ही कम हुआ, वे दुष्प्रवृत्तियाँ उसी या वैसे ही अन्य किसी रूप में पुनः उभर आती हैं। वास्तविक उन्मूलन तो तभी संभव है, जब अंतःकरण बदले, हृदय परिवर्तन हो और दृष्टिकोण में सुधार हो। इसी में स्थिरता भी सन्त्रिहित है और वास्तविकता भी।

आत्मा शुद्ध स्फटिक मणि के समान है। दर्पण के सामने जो भी वस्तु आती है, उसमें वैसी ही छाया दीखने लगती है। स्फटिक मणि के सामने जिस रंग की वस्तुएँ रखी होंगी, वह उसी रंग की शीखने लगेंगी। आज असुरता की परिस्थितियाँ फल-फूल रही हैं, तो मानव का स्वरूप दुष्ट, दुराचारी, अज्ञानी और असुर जैसा दीख रहा है। पर जैसे ही स्थिति में परिवर्तन होगा, परिस्थितियाँ मानवता, नैतिकता, धार्मिकता एवं सज्जनता के अनुकूल बनती जायेंगी, दुष्कर्म का स्थान सत्कर्म ग्रहण करेंगे, दुर्भाविनाओं के स्थान पर सद्भावनाओं की स्थिति दिखाई देगी। ऐसी परिस्थितियों में वही मानव प्राणी जो आज असुर दिखाई देता है, मानवता के उच्च आदर्शों से ओत-प्रोत होकर देवत्व की ओर तेजी से बढ़ता हुआ दिखाई देगा।

दृष्टिकोण का परिवर्तन ही सबसे बड़ा परिवर्तन है। अपनी सीमा के संकीर्ण दायरे को बढ़ाकर विशाल क्षेत्र तक विकसित करने का नाम ही विकास है। वासना और तृष्णा की, क्षुद्रता की, मोह निद्रा की उपेक्षा करते हुए कर्तव्य पालन और परमार्थ की आकांक्षाएँ जाग्रत् करना ही जागरण है। कुविचारों और दुर्भाविनाओं के काम, क्रोध, लोभ, मोह के बंधनों को तोड़ डालना—इसी का नाम मुक्ति है। संतोष, संयम और सचाई, सज्जनता और शांति की संतुलित मनोभूमि बनाये रखना—यही स्वर्ग है। यह अपनी धरती स्वर्ग से श्रेष्ठ है, यह अपना मानव शरीर देवताओं से उत्तम है। यह मनुष्य जन्म ईश्वर का हमें सबसे बड़ा अनुग्रह और वरदान है। इस

अलभ्य अवसर का, इस परम सौभाग्य का समुचित सदुपयोग करते हुए वह करना चाहिए, जो करने योग्य है। वह सोचना चाहिए, जो सोचने योग्य है वह चाहना चाहिए—जो चाहने योग्य है; उस मार्ग पर चलना चाहिए जो चलने योग्य है।

हमें अपनी असुरता को देवत्व में परिणत करने का प्रथल करना चाहिये, ताकि नारकीय अंतर्द्वारों और शोक-संतापों से छुटकारा पाकर शांति एवं संतोष का स्वर्गोपम सुख निरंतर उपलब्ध करते रह सकना संभव हो सके। दृष्टिकोण बदलने से जीवन बदल जाता और युग बदल जाता है। असुरता देवत्व में बदल सकती है, नरक को स्वर्ग में परिणत किया जा सकता है, यदि हमारा दृष्टिकोण बदले। इस बदलने की विशाल कार्य पद्धति को बिगुल बजाते हुए हम युग निर्माण के लिए अग्रसर होते हैं। आज हम थोड़े लोग इधर बढ़े, तो कल इन्हीं पद चिह्नों पर सभी दुनिया को चलना पड़ेगा।



सामाजिक प्रगति का एकमात्र आधार

स्वार्थपरता की मात्रा जब मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगती है, तब मनुष्य किसी भी मार्ग से अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए तत्पर हो जाता है। उचित-अनुचित का विचार छोड़कर जैसे भी बने अपना स्वार्थ सिद्ध करने की नीति जब अपनाई जाने लगती है, तो मनुष्य का व्यक्तित्व असुरता से परिपूर्ण हो जाता है। असुरता की जहाँ वृद्धि होगी वहाँ सुख-शांति का ठहर सकना संभव न होगा। अनैतिक दृष्टिकोण अपनाये हुए व्यक्तियों का समाज असभ्य ही कहला सकता है। वहाँ निरंतर क्लेश-कलह ही नहीं—सर्वनाश के अवसर भी उपस्थित होते रहते हैं। आज हमारे समाज में अपराधों, क्लेशों, संघर्षों, अभावों, चिंताओं और समस्याओं का घटाटोप दिखाई पड़ता है, उसका एकमात्र कारण व्यक्तियों के मन में बढ़ी हुई स्वार्थपरता, चरित्रहीनता एवं संकुचित दृष्टि ही है। आदर्शवाद का, धर्म, नीति एवं मर्यादा का उल्लंघन जब कभी भी अधिक मात्रा में होने लगा है, तब उसका परिणाम सारे समाज को भुगतना पड़ता है।

स्वार्थ से मनुष्य कैसा निर्मोही हो जाता है, इसके अगणित उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। स्वजन-संबंधियों के रिश्ते भी स्वार्थपरता के तूफान में नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। औरगंजेब अपने सगे भाई दारा को अपने मार्ग का कँटा समझता है और उसका सिर काटकर अपने बाप के आगे पेश करता है। सगे भाई के प्राण लेना और बाप को उसके प्राण प्यारे बेटे का कटा हुआ सिर दिखा कर, मृत्यु से अधिक यंत्रणा सहने को विवश करने वाली यह डाकिन स्वार्थपरता ही तो है। बालि ने अपने सगे भाई सुग्रीव की स्त्री का अपहरण कर लिया। रावण ने विभीषण को भरी सभा में सदुपदेश देने के कारण लात मारकर तिरस्कृत किया। कौरवों ने पांडवों को क्या-क्या दुःख नहीं दिये ! एक और राम, लक्ष्मण और भरत का आदर्श प्रेम है, दूसरी ओर औरगंजेब, बालि, रावण और

कौरवों के कुकृत्य है। इस अंतर को प्रस्तुत करने का कारण धर्म और अधर्म की आस्था-अनास्था ही हो सकती है।

बाप-बेटे का कितना पवित्र संबंध है ? पिता की आज्ञा पालन करने के लिए जहाँ राम, श्रवण कुमार, भीष्म, पुरु आदि ने अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किये, वहाँ ऐसी भी परंपरा मौजूद हैं जिनमें बेटे ने बाप को तिरस्कृत, पद दलित और मौत के मुँह में धकेल देने में कसर न रखी। जहाँगीर ने अकबर से युद्ध किया। शाहजहाँ ने जहाँगीर के खिलाफ बगावत की। औरंगजेब शाहजहाँ को कैद कर उसकी गढ़दी पर आप बैठ गया। बेटों की बापों के प्रति की गई यह करतूतें किस समाज के लिये गौरवास्पद हो सकती हैं ?

कंस ने अपनी बहिन देवकी के आठ बच्चों को पत्थर पर पटककर मार डाला। गुरुभक्ति के स्थान पर उनके साथ अमानवीय व्यवहार करने वाले शिष्यों की भी कमी नहीं रही। भस्मासुर अपने गुरु शिवजी पर उनके दिये हुए वरदान का उलटा प्रयोग करने एवं उन्हें भस्म करके पार्वती का अपहरण करने को उतारा हो गया। दयानंद को उनके प्रिय सेवक जगन्नाथ ने ही विष खिला दिया। इसा मसीह को उनके एक शिष्य ने ही तीस रूपये के लोभ में गिरफ्तार कराके फाँसी पर चढ़वा दिया। जहाँ गुरुभक्ति के एक से एक ऊँचे उदाहरण मौजूद हैं, वहाँ ऐसी निकृष्ट घटनाएँ भी कम नहीं हैं। अपने स्वामी की रक्षा के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने वाले संयमराम, पत्रा धाय और झलकारी जैसे उदाहरण मौजूद हैं, वहाँ सिराजुद्दौला से विश्वासघात करके उसके राज्य और जीवन को नष्ट करा देने वाले मीर जाफर जैसे नौकरों के कुकृत्य भी देखने को मिलते रहते हैं।

पतिव्रत भारतीय नारी की विशेषता रही है, पर सूर्पनखा जैसी भी नारियाँ हुई हैं, जो अपने विवाहित पति को छोड़कर पर पुरुषों की कल्पना से स्वच्छंद विचरण करती रहीं और समाज में भयंकर कांडों की निमित्त बर्नी। एक नारीव्रत का उल्लंघन जिन्होंने किया उन्होंने विपत्ति को ही आमंत्रण किया है। उत्तानपाद ने एक स्त्री के

रहते दूसरी से विवाह किया। उस ईर्ष्या से पहली रानी के पुत्र ध्रुव का अपमान हुआ और बच्चे को घर ही छोड़ देना पड़ा। दशरथ ने तीन विवाह करके कौन शांति पाई ? पांडु ने कुंती के रहने से माद्री से और विवाह कर लिया, तो उन्हें भयग्रस्त होकर अकाल मृत्यु के मुख में जाना पड़ा। रावण ने सीता का अपहरण करके कई स्त्री घर में रखनी चाही। कीचक ने द्रौपदी पर कुदृष्टि डाली, अलाउद्दीन चित्तौड़ की रानी पद्मावती पर ललचाया। इन सबका क्या परिणाम हुआ ? यह किसी से छिपा नहीं है। कुमार्ग पर जिसने भी कदम बढ़ाया है, उसने अपने लिए ही नहीं वरन् दूसरों के लिए भी संकट उत्पन्न किया है।

रावण, कंस, जरासंध, हिरण्यकश्यपु, वेन, नहुष, दुर्योधन, औरंगजेब, नादिरशाह आदि नृशंस शासकों ने अपने मुँह पर कालिख पोती और अन्य अगणित लोगों को उत्पीड़न एवं यंत्रणा को सहने के लिए विवश किया। मुहम्मद गोरी अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी करने के लिए क्या-क्या नहीं करता रहा ? क्या नेपोलियन और सिकंदर ने असंख्यों अपराधों के खून से धरती नहीं रंगी ? कुमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति सारे समाज को ही दुःख देते हैं। जयचंद ने देशद्रोह करके मुहम्मद गोरी को भारत पर आक्रमण करने के लिए बुलाया, तो उस कुकृत्य का दुष्परिणाम राष्ट्र को अद्यावधि सहना पड़ रहा है। दूसरी ओर एक व्यक्ति की देशभक्ति के कारण इंग्लैंड के मालामाल और समुन्नत हो जाने का भी उदाहरण मौजूद है। शाहजहाँ की पुत्री जहानआरा का इलाज एक अंगरेज डॉक्टर ने किया था। उससे जब बादशाह ने पूछा कि आपने मेरी बेटी की जान बचाई है, आपको क्या पुरस्कार दूँ ? तो उसने अपने लिए कुछ न माँगते हुए इतना ही कहा कि—मेरे देश से आने वाले माल पर चुंगी माफ कर दीजिये। शाहजहाँ ने उसे स्वीकार कर लिया और भारत के बाजार से इंग्लैंड जैसा पिछड़ा हुआ देश संसार का अग्रणी बन गया।

यह दुर्बुद्धि किन्हीं श्रेष्ठ व्यक्तियों को अपने चंगुल में फँसाले तो उन्हें भी पतन के गर्त में धकेल सकती है। विश्वामित्र ऋषि को प्रलोभन आया, तो वे मैनका के जाल में फँस गए। पराशर केवट कन्या पर मोहित हो गए और अपने को सँभाले न रह सके। चंद्रमा ने गुरु-पत्नी गमन का पाप कमाया और इंद्र जैसे देवता अहित्या का सतीत्व नष्ट करने के कुर्कम में प्रवृत्त हुए। भीष्म और द्रोणाचार्य जैसे विवेकशील दुर्योधन की अनीति का समर्थन करने लगे। इससे प्रतीत होता है कि कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा तभी तक रह सकता है, जब तक कि उसकी धर्मबुद्धि सावधान रहे। पापबुद्धि के प्रकोप से यदि मनुष्य संभल न सकें, तो स्वयं तो अंधकार के गर्त में गिरता ही है और भी दूसरे अनेकों को अपने साथ पाप-पंक में ले डूबता है।

धर्मबुद्धि के जाग्रत् होने पर फतेहसिंह, जोरावर सिंह जैसे छोटे-छोटे बालक दीवार में जीवित चुने जाना हँसी-खुशी स्वीकार कर सकते हैं। छोटी न कटने देने के बदले बोटी-बोटी कटवाने को प्रसन्नतापूर्वक तैयार होते हैं। स्वतंत्रता संग्राम के सैनिक बनकर असंख्यों व्यक्ति सब प्रकार की बरबादी सहन करते हैं और फँसी के तख्तों पर गीता की पुस्तकें छाती से चिपकाये हुए चढ़ते चले जाते हैं। राम की सेना में रीछ-बंदर जैसे दुर्बल प्राणी अपने प्राणों की आहुति देने के लिए सम्मिलित होते हैं। एक छोटी गिलहरी तक अपने बालों में धूरि भर-भरकर उसे समुद्र में झाड़ देने का अनवरत श्रम करके, समुद्र को उथला करके राम की सेना का मार्ग प्रशस्त करती है। धर्मबुद्धि से दुर्बल व्यक्तियों में भी हजार हाथी का बल आ जाता है, पर स्वार्थी बुद्धि तो सेनापतियों को भी कायर बना देती है। द्रौपदी को भरी सभा में नग्न किए जाते समय भीष्म और द्रोण जैसे योद्धा नपुंसक बने बैठे रहे। उनके मुख से एक शब्द भी विरोध का न निकला। थोड़े-से मुट्ठी भर विदेशी आक्रमणकारी भारत में आये थे, पर उनका संगठित मुकाबला करने के लिए यहाँ के शासक तैयार न हुए और पददलित होते चले गये।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई सहायता और आश्रय प्राप्त करने के लिए समर्थ राजाओं के पास जाती है, पर अंग्रेजों के डर से वे उसे साफ इनकार कर देते हैं। कितने ही भारतीय अंग्रेजों और मुसलमानों के नाक के बाल बने रहे और देश को गुलामी की जंजीरों से देर तक जकड़े रहने को अपनी स्वार्थ बुद्धि के कारण करने और न करने योग्य सब कुछ करते रहे। जहाँ राणा प्रताप और शिवाजी जैसे स्वाभिमानी जीवन भर भारतीय स्वतंत्रता के लिए तिल-तिल लड़ते रहे, वहाँ खुशी-खुशी अपनी बहिन-बेटियाँ देकर अपने लिए सुविधाएँ प्राप्त करने वाले भी कम न थे। राणा साँगा ८० घाव होने पर भी युद्धरत रहे पर दूसरे लोग शत्रु से मिलकर अपना स्वार्थ साधने में लगे रहे हैं।

मनुष्य हाड़-मांस का पुतला, एक तुच्छ प्राणिमात्र है, उसमें न कुछ विशेषता है न न्यूनता। उच्च भावनाओं के आधार पर वह देवता बन जाता है, तुच्छ विचारों के कारण वह पशु दिखाई पड़ता है और निकृष्ट पापबुद्धि, को अपनाकर वह असुर एवं पिशाच बन जाता है। इस लोक में जो कुछ सुख-शांति, समृद्धि और प्रगति दिखाई पड़ती है, वह सब सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का परिचय है। जितनी भी उलझनें, पीड़ाएँ और कठिनाइयाँ दीखती हैं, उनके मूल में कुबुद्धि का विष बीज ही फूलता-फलता रहता है। सैकड़ों- हजारों वर्ष बीत जाने पर भी पुरानी ऐतिहासिक इमारतें लोहे की चट्टान की तरह आज भी अडिग खड़ी हैं, पर हमारे बनाये हुए बाँध, स्कूल, पुल बनकर कुछ ही दिनों में बिखरना शुरू हो जाते हैं। सामान और ज्ञान दोनों ही आज पहले की अपेक्षा अधिक उच्चकोटि का उपलब्ध है, पर उस लगन की कमी ही दिखाई पड़ती है जिसके कारण प्राचीन काल में लोग स्वत्प साधन होते हुए भी बड़ी-बड़ी मजबूत चीजें बनाकर खड़ी कर देते थे। कुतुबमीनार, ताजमहल, आबू के जैन मंदिर, मदुरा के मीनाक्षी के देवालय, अजंता की गुफाएँ, मिस्र के पिरामिड और चीन की दीवार

उस समय के बौद्धिक ज्ञान का नहीं वरन् उत्कृष्ट वस्तु निर्माण करने की भावना का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

मशीनों, कारखानों, नहर, बाँध और सड़कों के आधार पर हमारी सुख-शांति नहीं बढ़ सकती। इनसे थोड़ी आमदनी बढ़ सकती है, पर उस बढ़ी आमदनी से अनर्थ ही बढ़ने वाला है। देखा जाता है कि कारखानों के मजदूर और दूसरे श्रमिक ४० फीसदी तक पैसा शराब, तंबाकू सिनेमा आदि में खर्च कर डालते हैं। आमदनी बढ़ती चलने पर तरह-तरह की फिजूलखर्ची के साधन बढ़ते जाते हैं। जिन्हें ऊँची तनख्वाहें मिलती हैं, वे भी अभाव और कमी का रोना रोते रहते हैं। धनी लोगों के व्यक्तिगत एवं पारिवारिक, सामाजिक जीवन क्लेश और द्वेष से भरे रहते हैं। पैसे के साथ-साथ दुर्गुण बढ़ते चलने पर वह दौलत और उलटी विपत्ति का कारण बनती चलती है। इसलिए आर्थिक उन्नति के साथ-साथ विवेकशीलता और सत्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि भी आवश्यक रहेगी। यदि इस दिशा में उपेक्षा बरती गई, तो प्रगति के लिए आर्थिक सुविधा बढ़ाने के जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, वे हमारी समस्याओं को सुलझा सकने में कदापि समर्थ न हो सकेंगे।

जब तक मजदूर ईमानदारी से काम न करेंगे, कोई कारखाना पनप न सकेगा। जब तक चीजें अच्छी और मजबूत न बनेंगी, उनसे किसी खरीदने वाले को लाभ न मिलेगा। जब तक विक्रेता और व्यापारी मिलावट, कम तोल-नाप, मुनाफाखोरी न छोड़ेंगे, तब तक व्यापार की स्थिति दयनीय ही बनी रहेगी। सरकारी कर्मचारी जब तक अहंकार, रिश्वत, कामचोरी और घोटाला करने की प्रवृत्ति न छोड़ेंगे, तब तक शासन तंत्र का उद्देश्य पूरा न होगा। यह सत्प्रवृत्तियाँ इन वर्गों में अभी उतनी नहीं दिखाई देती, जितनी होनी चाहिए। यही कारण है कि हमारी प्रगति अवरुद्ध बनी पड़ी है। साधनों की कमी नहीं है। आज जितना ज्ञान, धन और श्रम साधन अपने पास मौजूद हैं, उनका सदुपयोग न होने लगे, तो सुख-सुविधाओं की अनेक गुनी अभिवृद्धि हो सकती है।

आत्म-कल्याण की लक्ष्यपूर्ति तो सर्वथा सत्प्रवृत्तियों पर ही निर्भर है। ईश्वर का साक्षात्कार, स्वर्ग एवं मुक्ति को प्राप्त कर सकना केवल उन्हीं के लिए संभव है, जिनके विचार और कार्य उच्चकोटि के, आदर्शवादी एवं परमार्थ भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। कुकर्मी और पापवृत्तियों में ढूबे हुए लोग चाहे कितना ही धार्मिक कर्मकांड क्यों न करते रहें, कितना ही भजन-पूजन कर लें, उन्हें ईश्वर के दरबार में प्रवेश न मिल सकेगा। भगवान् घट-घटवासी हैं, वे भावनाओं को परखते हैं और हमारी प्रवृत्तियों को भली प्रकार जानते हैं, उन्हें किसी बाह्य उपचार से बहकाया नहीं जा सकता। वे किसी पर तभी कृपा करते हैं, जब भावना की उत्कृष्टता को परख लेते हैं। उन्हें भजन से अधिक 'भाव' प्यारा है। भावनाशील व्यक्ति बिना भजन के भी ईश्वर को प्राप्त कर सकता है, पर भावनाहीन व्यक्ति के लिए केवल भजन के बल पर लक्ष्य प्राप्ति संभव नहीं हो सकती।

लौकिक और पारलौकिक, भौतिक और आत्मिक कल्याण के लिए उत्कृष्ट भावनाओं की अभिवृद्धि नितांत आवश्यक है। प्राचीन-काल में जब भी अनर्थ के अवसर आये हैं, तब उनका कारण मनुष्य की स्वार्थपरता एवं पापबुद्धि ही रही है और जब भी सुख-शांति का आनंदमय वातावरण रहा है, तब उसके पीछे सद्भावनाओं का बाहुल्य ही मूल कारण रहा है। आज भी हमारे लिए वही मार्ग शेष है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग न पहले था और न आगे रहेगा। सभ्य समाज की स्थिति जब-जब रही, तब धर्मबुद्धि की ही प्रधानता रही है, हमें वर्तमान दुर्दशा से ऊँचे उठने के लिए जनमानस में गहराई तक धर्मबुद्धि की स्थापना करनी होगी। इसी आधार पर विश्वव्यापी सुख-शांति का वातावरण बन सकना संभव होगा।



यह सत्यानाशी सामाजिक कुरीतियाँ

मनुष्य अपनी भीतरी दुर्बलताओं के कारण ही चिंतित, परेशान और दुःखी रहता है। बाह्य जीवन की किस समस्या को कितना महत्व दिया जाए ? उसे किस दृष्टिकोण से देखा जाए और कैसे सुलझाया जाए ? इसका उचित मार्ग न मिलने से साधारण-सी बातें बहुत बढ़ी-चढ़ी दिखती हैं और उनके सुलझाने का ठीक तरीका मालूम न होने से उलटी उलझाती चली जाती हैं। प्रसन्न और भारविहीन जीवन बिताने के लिए जीवन विद्या के आवश्यक तथ्यों से हमें परिचित रहना ही चाहिए।

हिंदू समाज में एक बड़ा सिर दर्द सामाजिक कुरीतियों के कारण उत्पन्न हो गया है। कितनी ही प्रथाएँ ऐसी चल पड़ी हैं, जो बहुत धन खर्च करने की माँग प्रस्तुत करती हैं। मध्यम श्रेणी का व्यक्ति ईमानदारी से उतना ही मुश्किल से कमा सकता है, जिसमें उसके परिवार का गुजारा किसी प्रकार हो सकता है, इस महँगाई के जमाने में लंबी-चौड़ी बचत कर सकना सर्वसाधारण के लिए संभव नहीं। आये दिन बहुत धन खर्च कराने की माँग करने वाली कुरीतियों का भी यदि मुँह भरना है, तो कोई बेईमानी के तरीके अपनाये बिना और रास्ता नहीं मिलता। एक रास्ता यह भी है कि पेट पर पट्टी बाँधकर, साग-सत्तू से गुजारा करते हुए, बच्चों के मुँह में जाने वाली दूध की बूँदें बचाकर कौड़ी-कौड़ी धन जोड़ा जाए और इन कुरीतियों की पिशाचिनी को तृप्त किया जाये। तीसरा तरीका है कि घर के बर्तन-किवाड़ बेचकर, मित्र-रिश्तेदारों से कर्ज लेकर तत्काल का काम तो चला लिया जाए, पर पीछे भारी अभाव और तिरस्कार का जीवन बिताया जाए। कर्ज-ब्याज सिर पर चढ़कर दौड़ता है। सीमित आमदनी में वह चुक नहीं पाता तो जलील होना पड़ता है और परेशानी भी उठानी होती है।

यह परिस्थितियाँ मनुष्य को इस बात के लिए विवश करती हैं कि वह किसी भी प्रकार, कहीं से भी धन कमाये और जो कुरीतियाँ गले में फँसी के फंदे की तरह जकड़ी हुई हैं, उनकी आवश्यकता पूरी करे। बेईमानी करने का हुनर, चातुर्य और अवसर भी सब किसी को नहीं होता। कुछ लोग चाहते हुए भी ऐसा नहीं कर पाते और किसी भी प्रकार आवश्यक धन नहीं जुटा पाते तो चिंता की आग में घुल-घुल कर अप्रत्यक्ष आत्महत्या करने के लिए मंद गति से अकाल मृत्यु की ओर चलते रहते हैं। इतना सब होते हुए भी हमारी मानसिक दुर्बलता यह सोचने नहीं देती कि क्या यह सामाजिक कुरीतियाँ आवश्यक ही हैं ? क्या इन्हें सुधारा और बदला नहीं जा सकता ?

विवाह-शादी का ही प्रश्न लीजिए। उसमें कितना पैसा खर्च होता है ? धूम-धाम, गाने-बजाने, आतिशबाजी, बरात, दावत, दहेज, जेवर आदि के लिए लोग इतना धन खर्च करते हैं, जो उनकी हैसियत और औकात से बाहर होता है। तीन दिन के धूम-धमाके में जितने धन की होली जल जाती है, उतने धन को यदि लड़के-लड़की के स्वास्थ्य, शिक्षा, व्यवसाय या बचत-पैंजी के लिए संभालकर रखा गया होता, तो उसका कैसा अच्छा उपयोग होता, कितना काम चलता ? कुरीतियों की होली में जो गाढ़ी कमाई स्वाहा हो गई, वह तो किसी के भी काम न आई। फिर इस मूर्खतापूर्ण विडंबना को खड़ा करने से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? यह विचारणीय बात है।

यह धूम-धमाके उन लोगों के यहाँ होते थे, जिनके पास अनाप-शनाप पैसा भरा पड़ा था। कुछ दिन पहले जर्मीदारों, साहूकारों, राजा-रईसों का बोलबाला था, वे अपने सामंतवादी तरीकों से अशक्त और असंगठित जनता को आतंकित कर सहज ही अंधाधुंध धन एकत्रित कर लेते थे। इतना उदार हृदय था नहीं, जो उस एकत्रित धन को किसी मानव सेवा में लगा दें। ऐसी बुद्धि होती, तो वह धन एकत्रित ही कैसे हो पाता ? इस एकत्रित पैसे

का क्या उपयोग हो सकता था ? दो ही मार्ग थे, खाना और खुंदरना। खाने के नाम पर हर प्रकार की ऐयाशी और खुंदरना के नाम पर बखेरना, होली जलाना। अपने बाल-बच्चों की विवाह-शादी के अवसरों पर यह लोग अंधे होकर खर्च करते थे। रुपये-पैसों को ठीकरी की तरह बखेरते भी थे। अब तो रिवाज कम हो गया है, पर किसी जमाने में रुपये-पैसों की बखेर भी विवाह-शादियों में खूब हुआ करती थी। लक्ष्मी का इस प्रकार तिरस्कार करने का उद्देश्य यही हो सकता था कि लोग यह अनुभव करें कि बखेरने वाला इतना धनी है कि वह व्यर्थ पैसे को बखेरते फिरने में भी संकोच नहीं करता।

जिनके पास फालतू पैसा है, वे जो चाहे वही कर सकते हैं। आज भी उनकी सामंतवादी गतिविधियाँ चल रही हैं। उनकी रंगरेलियाँ, चोचले और खुराफातें पहले भी चलती थीं और आगे भी चलेंगी। उन्हें कौन रोके ? धन के समान वितरण और उपार्जन की समान सुविधा प्रस्तुत करने वाली कोई अर्थ व्यवस्था बन सके, तभी उन पर नियंत्रण होगा। पर जब तक ऐसा नहीं है तब तक भी इस बात की क्या जरूरत है कि हम गरीब लोग, उन अमीरों की नकल बनायें, जिनके पास अनाप-शनाप लुटाने योग्य पैसा भरा पड़ा है।

गरीब लोग जिनके पास गुजारे के लिए आवश्यक साधन नहीं, अमीरों की नकल करके उन्हीं का स्वांग बनायें, तो यह उनकी मानसिक दुर्बलता ही कही जायेगी। इस दुर्बलता से पिंड छुड़ाए बिना सामाजिक कुरीतियों से पीछा छूटना कठिन है और जब तक यह कुरीतियाँ नष्ट न होंगी, हमारी जीवन-व्यवस्था अशांति में ही ढूबी पड़ी रहेगी। बच्चे-बच्चियाँ हर गृहस्थ के घर में पैदा होने ही वाले हैं। जब पैदा होंगे तो उनका विवाह भी होगा। विवाह होगा तो धन चाहिए ही। धन चाहिए तो उसकी चिंता में निमग्न रहकर अनावश्यक बचत और अनुचित उपार्जन का मार्ग ग्रहण करना ही होगा। यदि इसमें भी सफलता न मिली और

उपयुक्त साधन न जुट सके, तो सारी आंतरिक शांति खोकर दिन-रात चिंता में जलते-जलते अप्रत्यक्ष आत्महत्या करनी ही होगी। कितना बड़ा कुचक्र है यह? इस कुचक्र में बँधा हुआ भारतीय जीवन किस प्रकार अस्त-व्यस्त हो रहा है? यह विचार करते ही कलेजा टूटने लगता है और हृदय में एक हूक उठती है। हाय री, मानसिक दुर्बलता, काश हम तुझे छोड़ सके होते और यह विचार कर सके होते कि यदि यह कुरीतियाँ आवश्यक और उपयोगी नहीं, तो इन्हें छोड़ क्यों न दिया जाये, तो कितना अच्छा होता?

द्वापर युग में एक पूतना नाम की पिशाचिनी हुई थी। भागवत पुराण में वर्णन है कि वह बड़ी भयंकर और विकराल थी, पर बाहर से बड़ा सुंदर मायावी रूप बनाये फिरती थी। उसका काम था बालकों की हत्या करना, इसी में उसे बहुत आनंद आता था, आखिर पिशाचिनी ही जो ठहरी। अंत में उसका दमन कृष्ण भगवान् ने किया और लोगों के सामने उसके विकराल भयंकर रूप का भंडाफोड़ किया। आज सामाजिक कुरीतियों की अनेक पिशाचिनी चौसठ मसानियों की तरह खूनी खप्पर भर-भर कर नाच रही हैं। इन सबमें प्रमुख 'विवाहोन्माद की डाकिनी' यह देखने में बड़ी सुंदर लगती है। शादी-विवाहों के दिनों बड़ी रौनक और धूम-धाम होती है; पर अंत में जो दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है, उसे हममें से प्रत्येक जानता है। वह जिस घर में घुसती हैं, उसकी अर्थ व्यवस्था का सारा रक्त पी जाती है।

दहेज की असमर्थता के कारण अगणित बच्चियों को कुमारी रहना पड़ता है, बूढ़े या अयोग्यों के गले बँधना पड़ता है, वैधव्य भोगना पड़ता है, आत्महत्या करनी होती है, जीवन भर जलते रहना पड़ता है और भी न जाने क्या-क्या करना पड़ता है? बच्चों को पत्थर पर पटक-पटक यह पिशाचिनी भले ही न मारती हो, पर उनका भविष्य अंधकारमय जरूर बना देती है। बच्चों को ही नहीं, बच्चों के अभिभावकों को भी यह एक-दो दिन नहीं—वर्षों तक चिंता

और व्यग्रता के एकांत में आँसू बहाते रहने के लिए विवश करती रहती है। दुःख इसी बात का है कि इन पूतनाओं का छद्मवेश अभी हमारी समझ में नहीं आता, इन्हें अभी भी हम सुंदर और ग्राह्य माने बैठे हैं।

दुःख इस बात का भी है कि कोई ऐसा कृष्ण उत्पन्न नहीं होता, जो पूतना-वध का वास्तविक अभिनय करे। यों रास लीलाओं में तो पूतना मरते हम रोज ही देखते हैं और कथा-वार्ताओं में पूतना वध का प्रसंग सुनकर प्रसन्न भी होते हैं, पर असली पूतना तो हमारे चारों ओर नग्न नृत्य कर रही है। बालिकाओं की छाती उस वीभत्स नृत्य को देख-देख कर दिन-रात सूखती, सकपकाती रहती है। न जाने यह हत्यारी कब मरेगी ? न जाने इसे मारने वाला कब पैदा होगा ? यही प्रश्न भारत की आत्मा हर घड़ी पूछती है, पर अंतरिक्ष से उत्तर कुछ नहीं मिलता।

विवाहों में होने वाला अपव्यय, मृत्यु भोज में बाप-दादों के नाम पर लंबी-चौड़ी दावतों का आयोजन, तीज-त्यौहारों पर रिश्तेदारी में भेजे जाने वाले अलग-अलग उपहार कितने खर्चीले सिद्ध होते हैं, इसे हर कोई जानता है। जनेऊ, मुंडन, दस्टौन आदि के नाम पर लोग लंबी-चौड़ी दावतें देने और उपहार बाँटने में अपनी सामर्थ्य से बाहर शेखीखोरी दिखाते हैं। वातावरण कुछ ऐसा बन गया है कि न किया जाए तो यह डर लगता है कि दूसरे लोग हमें गरीब या कंजूस मानेंगे। यह अपडर सर्वथा निरर्थक और भ्रमपूर्ण है। आज परिस्थिति यह है कि हर कोई इन बुराइयों से परेशान है और चाहता है कि ये जितनी जल्दी मिटें उतना ही अच्छा है। पर आश्चर्य तो यह है कि वह ऐसा सोचता है कि मैं अकेला ही इसके विरुद्ध हूँ, अन्य लोग पक्ष में हैं। जबकि सही बात इससे उलटी है। हर आदमी इन्हें समाप्त करने की इच्छा रखते हुए भी स्वयं पहल नहीं करना चाहता। इसमें उसे लगता है कि उसी को निंदा और विरोध का पात्र बनना पड़ेगा। वास्तविकता यह है कि जो अपने विरोध को चरितार्थ करेगा, उसे आज नहीं तो कल

समाज का उद्धारक, त्राता और मार्गदर्शक माना जायेगा। प्रश्न पहल करने का है। पीप से भरा हुआ फोड़ा पूरी तरह पीला पड़ गया है और पिलपिला रहा है, अब जरा-सा छेद करना बाकी है। उसी में झिझक हो रही है। कोई साहसी आगे बढ़कर पहल करने लगे, तो यह सारी सड़न भरी पीप निकल बाहर हो और हमारा सामाजिक शरीर शुद्ध और स्वच्छ बन जाए।

धर्म और परंपरा की दुहाई देना बेकार है। हिंदू समाज में आज भी इतनी परस्पर विरोधी प्रथाएँ चल रही हैं, जिनको देखते हुए इन रीति-रिवाजों को केवल क्षेत्रीय रस्म रिवाज और भैङ्घ्याधसान मात्र ही कहा जा सकता है। हमारे राजस्थान के राजपूतों तथा उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के कुछ रईस किस्म के लोगों में आज भी लंबा घूँघट काढ़ने और पर्दे में स्त्रियों को बंद रखने की प्रथा मौजूद है, पर पंजाब, गुजरात महाराष्ट्र, बंगाल, दक्षिण भारत में पर्दा का कहीं नाम निशान भी नहीं है। हिंदू सभी हैं, हिंदू धर्म सभी मानते हैं। फिर पर्दा हिंदू धर्म का अंग कैसे कहा जायेगा ? मध्य प्रदेश तथा राजस्थान की मीना आदि अविकसित जातियों में अभी भी चार-चार, छह-छह वर्ष के बच्चों के विवाह होते हैं, जबकि पंजाब और महाराष्ट्र में आमतौर से वयस्क होने पर ही विवाह होते हैं। बाल विवाह या वयस्क विवाह को धर्म-अधर्म की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता।

उत्तर प्रदेश, बंगाल आदि में दहेज का लेन-देन बहुत है। लड़की का विवाह बिना बहुत दहेज दिये अच्छे घरों में नहीं हो सकता, पर राजस्थान की कई जातियों में तथा पंजाब में—जहाँ लड़कियों की कमी है—बदले में लड़की देकर परस्पर विवाहों की व्यवस्था बनती है। गोंड, भीलों और भ्रमणशील जातियों में लड़कियों का मूल्य लड़के वाले को देना पड़ता है। हिमालय की तराई में लड़कों को लड़की का इतना अधिक मूल्य कर्ज लेकर चुकाना पड़ता है कि प्रायः सारे जीवन उन्हें उस कर्ज में ही मजदूरी करनी पड़ती है। ऐसी दशा में यह कैसे माना जाए कि दहेज सनातन है,

धर्मसम्मत है। यह तो प्रथा-परंपरा मात्र हैं, जो जहाँ-जिस प्रकार चल पड़ी—चलने लगी। इन्हें तोड़ते हुए सामाजिक विरोध का डर लोगों को लगा रहता है। यदि यह डर निकल जाए और विवेक एवं उपयोगिता के आधार पर परंपराओं का मानना छोड़ा जाने लगे, तो हमारी आर्थिक समस्याओं का एक अत्यंत सुखद हल निकल सकता है। लोकमत से डरना पाप और दुष्कर्म के लिए तो ठीक है, पर अज्ञान और अविवेक की बातों का तो निराकरण ही वीरता है।

कन्या और पुत्र में अंतर किये जाने, लड़कियों को व्यर्थ और लड़कों को उपयोगी माना जाने की धृष्टिंत एवं पक्षपातपूर्ण मान्यता भी दहेज जन्य कठिनाई का एक कारण हो सकती है। लड़कों की कमाई खाने की मृगतृष्णा भी कई बार पुत्र को अधिक महत्त्व देती है। पिंड-तर्पण मिलने, वंश चलने जैसी बेकार बातें तो अब कोई-कोई ही मानते हैं, लेकिन पक्षपात की अन्याय दृष्टि अभी भी अपनी जड़ जमारे हुए है। शिक्षा, खानपान-जेब खर्च, वस्त्र आदि सभी में लड़कियों के साथ अन्यायपूर्ण दृष्टिकोण रखा जाता है। जबकि वस्तुतः दोनों का महत्त्व समान है, दोनों का विकास समान रूप से आवश्यक है, दोनों की समान प्रसन्नता होनी चाहिए। पर लड़का के होने से प्रसन्न होना या लड़की का जन्म दुर्भाग्य माना जाना ऐसा गलत विचार है, जिसके कारण नारी का विकास बुरी तरह रुका हुआ है और हमारा आधा समाज पर्दे के भीतर कैदियों सा, अविकसित, अशिक्षित एवं अपांग जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हो रहा है। विवाह-शादियों में होने वाला खर्च यदि लड़कियों की शिक्षा एवं विकास में लगाया जाए, तो वे ही लड़कियाँ भी लड़कों के समान ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती हैं।

जीवन को सुविकसित और शांतिमय बनाने के लिए हमें सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी लोहा लेना होगा। इनके रहते हम न तो चिंतामुक्त हो सकते हैं और न ईमानदार रह सकते हैं। अनावश्यक कार्यों में विपुल धन खर्च करना पड़े, तो उसे जुटाने में सारी मानसिक शक्ति खर्च करनी पड़ेगी, ईमानदारी भी खोनी

पड़ेगी। ऐसी दशा में वह श्रेष्ठ जीवन कैसे प्राप्त हो सकेगा, जो शांति और प्रगति के लिए आवश्यक है।

जीवन-विद्या की आरंभिक शिक्षा यह है कि हम पेट पालने और गृहस्थ चलाने के कार्यक्रम से कुछ समय, मन और धन बचा कर उन कार्यों में लगायें, जो बौद्धिक विकास के लिए, आत्मिक प्रगति के लिए तथा लोकहित के लिए आवश्यक हैं। शिक्षा, स्वाध्याय, सत्संग, कौशल, सामूहिक विकास, परमार्थ एवं सत्कर्मों के लिए हमारी शक्तियाँ लगें और हमारी कमाई का एक अंश इन कार्यों के लिए भी सुनिश्चित रहे। पर सामाजिक कुरीतियों का भार इतना अधिक हो जाता है कि उसे वहन करने में ही सारी शक्ति समाप्त हो जाती है। इस अपव्यय को रोकना होगा। हमारी अर्थव्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करने का भारी उत्तरदायित्व इन खर्चों को है। अर्थ-संतुलन जीवन का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसे हल करने के लिए जहाँ व्यक्तिगत रूप से आमदनी बढ़ाना और खर्च घटाना आवश्यक है, वहाँ यह भी अनिवार्य है कि इन खर्चों को ठोकर मार-मार कर दूर हटा दिया जाए। इसके बिना शांतिमय जीवन की आकांक्षा एक कल्पना मात्र ही बनी रहेगी।



सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन

सामाजिक बुराइयों और कुरीतियों का उन्मूलन तभी हो सकता है, जब उनका विरोधी-वातावरण उत्पन्न किया जाए एवं कुछ साहसी लोग उन्हें तोड़ने के लिए तत्पर हों। दहेज की बुराई को ही लीजिए, यह एक बहुत बड़ी बुराई है। इसको मिटाने के लिए इस कुरीति पर अपनी स्वार्थपरता के कारण अड़े हुए लोगों का निरुत्साहित किया जाना आवश्यक है। अनीति के आगे सिर झुकाते रहने से तो वह और भी अधिक बढ़ेगी।

फीरोजाबाद श्रमिक बस्ती में एक सिंधी के यहाँ जयपुर से बरात आई। विवाह आरंभ होने से कुछ घंटे पूर्व ही लड़के वाले दहेज में लंबी रकम माँगने लगे। लड़की वाले उतना देने में असमर्थ थे, पर लड़के वाले अपनी जिद पर अड़े ही रहे। उन्हें इस बात का भी रंज न था कि लड़की के भाई की अभी चार दिन पूर्व ही रेल से कटकर मृत्यु हुई है, ऐसे अवसर पर इन्हें इतना परेशान न किया जाए। लड़के वालों की हृदयहीनता पर क्षुब्ध होकर कन्या ने स्वयं ही वह विवाह करने से इनकार कर दिया और बारात को वापस लौटना पड़ा।

कपूरथला के पास शाहकोट से एक बारात नकदोर गई थी। कन्यापक्ष ने वरपक्ष की दहेज की सब माँगों को मंजूर किया, किंतु दहेज में जो चीजें दी जा रही थीं, उनसे वर को संतोष नहीं हुआ। उसने दहेज की चीजों को ठोकर मारना शुरू कर दिया। आखिर कन्या पक्ष को रोष का प्याला छलक आया। उसने लड़की विदा करने से साफ-साफ इनकार कर दिया और बारात को बैरंग वापस जाना पड़ा। बात यहीं समाप्त नहीं हुई, लोगों ने वर के मुँह पर कालिख पोत दी और उसको गधे पर बिठाकर जुलूस निकालने की कोशिश की। वर को ऐसी शिक्षा मिली है कि जिसे वह जीवन भर नहीं भूल सकेगा।

रोहतक की खबर है कि नरवाना से ५ मील दूर खरल गाँव में एक वैश्य के यहाँ कैथल तहसील के किसी गाँव से बारात आई हुई थी। लड़की वाले ने बारात की खातिर करने में कोई कसर न रखी और काफी से ज्यादा दहेज भी दिया। विदा के समय ५ रुपये और गिलास प्रत्येक बराती को भी दिये। लड़के वाले ने चाँदी के गिलास माँगे। लड़की वाले ने कहा—हमारे पास इस समय चाँदी के गिलास नहीं हैं। लड़के वाला गिलास लेने की जिद्द पर अड़ा रहा। आखिर ग्राम की पंचायत ने दहेज इत्यादि सारा रख लिया और लड़की को भेजने से इनकार कर दिया।

पटियाले के पास गाँव धनौर में मलार कोटला के एक अग्रवाल परिवार की बारात आई थी। वर ने अपने श्वसुर से माँग की कि उसे दहेज में स्कूटर दिया जाए। जब लड़की को पता लगा कि उसका पति स्कूटर के लिए जोर दे रहा है और समझाने का उस पर कोई असर नहीं हो रहा है, तो उसने ऐसे लालची युवक से शादी करने से इनकार कर दिया। मंगनी के समय चीजों का आदान-प्रदान हुआ था, वे वापस कर दी गई और बारात बिना वधू के वापस चली गई।

संस्थाओं, सभाओं तथा पंचायतों एवं व्यक्तियों द्वारा इन सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन करने के लिए कुछ प्रयत्न किये भी जा रहे हैं। इन्हें प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है।

अंबाला के निकटस्थ गाँव शाहपुर के लोगों ने प्रतिज्ञा की है कि वे दहेज पर व्यर्थ खर्च न किया करेंगे। उन्होंने फैसला किया है कि वे विवाह में वर-वधू को नेशनल सेविंग सर्टीफिकेट देंगे।

मथुरा के चमेली देवी खंडेलवाल गल्लर्स इंटर कालेज के प्रांगण में देश के अनेक स्थानों से आए हुए २० वर-वधुओं का एक साथ ही विवाह संपन्न हो गया। विवाह में यज्ञ आदि का व्यय ५० भाठा खंडेलवाल महासभा ने उठाया। इन वर-वधुओं के माता-पिताओं को दहेज तथा दावत में एक पैसा खर्च नहीं करना पड़ा। खंडेलवाल सभा ने भरतपुर के नामा नगर में तथा आगरा में ऐसे

सामूहिक विवाहों का आयोजन कराया, जिसमें बिना किसी लेन-देन अथवा दहेज के केवल एक रूपया कन्यादान में देकर विवाह कार्य संपन्न हुए। वर तथा वधू के माता-पिताओं को इन विवाहों में कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ा। इस अनुकरणीय उदाहरण की अन्य जातियों में भी बड़ी चर्चा है और वे भी इसी प्रकार की व्यवस्था करने की तैयारी कर रहे हैं।

रोहतक, करनाल, गुडगाँव, महेंद्रगढ़, हिसार व दिल्ली प्रदेशों की जनता की एक सार्वदेशिक पंचायत ने निर्णय किया कि विवाह तथा अन्य धार्मिक व सामाजिक उत्सवों में व्यर्थ का व्यय न किया जायेगा, पंचायत में २० हजार के लगभग व्यक्ति उपस्थित थे।

दिल्ली के एक धनी व्यापारी का लड़का गोपाल दास अपनी शादी से एक घंटे पहले ही गायब हो गया था। कई दिन बाद वह मिल गया। लड़के ने इस प्रकार गायब होने के कारण बताया कि उसके विवाह पर लड़की वाले से बहुत बड़ी रकम दहेज में ठहराई गई थी। मुझे इससे बड़ा दुख हुआ और सोचा कि इस अनर्थ को रोकने का उपाय अब मेरा गायब हो जाना ही हो सकता है, इसलिए मैं भाग खड़ा हुआ। लड़के ने कहा—यदि दहेज न लिया दिया जाए, तो मैं खुशी-खुशी यह शादी करने को तैयार हूँ।

जहाँ-तहाँ ऐसे ही साहस के परिचय कन्याओं ने भी दिये हैं और उन्होंने अपने घर वालों से कह दिया है कि वे आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर मेहनत-मजूरी करके अपना गुजारा करेंगी, पर दहेज के लोभी कसाइयों के यहाँ इस प्रकार तिरस्कारपूर्ण रीति से जाना पसंद न करेंगी।

सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन ऐसे ही साहसी शूरवीरों द्वारा हो सकना संभव है।



हमारा समाज असभ्य एवं अविवेकी न हो

असभ्य समाज में, अविवेकी लोगों में रहने वाला कोई श्रेष्ठ व्यक्ति भी शांति लाभ नहीं कर सकता। कोई असाधारण मनस्वी उन्हें सुधारने में अपनी असाधारण प्रतिभा व्यय करते हुए कुछ अनुकूलता तो उत्पन्न कर सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि सर्वों के लिपटे रहने पर भी अप्रभावित रहने वाले चंदन वृक्ष की तरह अपनी मानसिक शांति को स्थिर रख सके। पर ऐसा होता कम ही है, कोई विरले ही लोग इस उच्च स्थिति के होते हैं। महात्मा इमर्सन जैसे लोग उँगलियों पर गिनने लायक ही होते हैं जो यह दावा कर सकें कि—“मुझे नरक में भेज दो, मैं अपने लिए वहाँ भी स्वर्ग बना लूँगा।”

बुरे लोगों के बीच रहते हुए सज्जनों को भी कष्ट ही होता है। जहाँ नर बलि चढ़ाने की प्रथा है, उन निर्दय, अविवेकी, जंगली, असभ्य लोगों की बस्ती में रहने वाले भले मानुस को भी अपनी सुरक्षा कहाँ अनुभव होगी ? बेचारा डरता ही रहेगा कि किसी दिन मेरा ही नंबर न आ जाए। गंदे लोगों के मुहल्ले में रहने वाले सफाई पसंद व्यक्ति का भी कल्याण कहाँ है ? चारों ओर गंदगी सड़ रही होगी, बदबू उठ रही होगी, तो अपने एक घर की सफाई रखने के भी क्या काम चलेगा ? दूसरों के द्वारा उत्पन्न की हुई गंदगी हवा के साथ उड़कर उस स्वच्छ प्रकृति मनुष्य को भी प्रसन्न न रहने देगी। बाजार में हैजा फैले तो स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने वाले भी उसकी चपेट में आते हैं। मुहल्ले में आग लगे तो अपना छप्पर भी उसकी लपटों में आता है।

एक गाँव के कुछ लोग सांप्रदायिक दंगा करें या कोई और उपद्रव करें तो सरकार उसका सामूहिक जुर्माना सारे गाँव पर करती है और शांतिप्रिय लोगों को भी वह दंड चुकाना होता है। तब शांति प्रिय लोगों को भी कानून में निर्दोष नहीं माना जाता, क्योंकि किसी व्यक्ति का इतना ही कर्तव्य नहीं है कि वह शांति के साथ

सभ्यतापूर्वक स्वयं रहे, वरन् यह भी उसका कर्तव्य है कि जो दूसरे उपद्रवकारी हैं, उन्हें समझाये या रोके, न रुकते हों तो प्रतिरोध करे। यदि किसी ने अपने तक ही शांति को सीमित रखा है, दूसरे उपद्रवियों को नहीं रोका है, तो यह न रोकना भी नागरिक शास्त्र के अनुसार, मानवीय कर्तव्य शास्त्र के अनुसार, एक अपराध है और उस अपराध का दंड यदि सामूहिक जुर्माने के रूप में वसूल किया जाता है, तो उस शांतिप्रिय व्यक्ति की यह दलील निकम्मी मानी जायेगी कि मैं क्या करूँ ? मेरा क्या कसूर है ? मैंने कोई अपराध थोड़े ही किया है ?

हमें स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं अपराध न करना ही हमारी निर्दोषिता का प्रमाण नहीं है। अपराधों और बुराइयों को रोकना भी प्रत्येक सभ्य एवं प्रबुद्ध नागरिक का कर्तव्य है। यदि किसी की आँखों के आगे हत्या, लूट, चोरी, बलात्कार आदि नृशंस कृत्य होते रहें और वह मौन पत्थर की तरह चुपचाप खड़े देखते रहें, कोई प्रतिरोध न करें तो यह निष्क्रियता एवं अकर्मण्यता भी कानून अपराध मानी जायेगी और न्यायाधीश इस जड़ता के लिए भी दंड देगा। इसे कायरता और मानवीय कर्तव्यों की उपेक्षा माना जायेगा। गाँवों में जिनके पास बंदूकें रहती हैं, उनका यह कर्तव्य भी हो जाता है कि यदि गाँव में दूसरों के यहाँ डकैती पड़े, तो डाकुओं से मुकाबला करने के लिए उन बंदूकों का उपयोग करें। यदि वे बंदूक वाले डर के मारे अपने घरों में चुपचाप जान बचाये बैठे रहें और डकैती बिना प्रतिरोध पड़ती रहे, तो इस कांड में डकैतों की तरह उन डरपोक बंदूकधारियों को भी अपराधी माना जायेगा और सरकार उनकी बंदूकें जब्त कर लेगी।

समाजशास्त्र के अनुसार प्रत्येक सभ्य नागरिक का यह पवित्र कर्तव्य है कि बुराइयों से वह स्वयं बचे और दूसरों को बचाये। अपराध न तो स्वयं करे और न करने दे, जो स्वयं तो पाप नहीं करता पर पापियों का प्रतिरोध नहीं करता, वह एक प्रकार से पाप का पोषण ही करता है, क्योंकि जब कोई बाधा देने वाला ही

न होगा तो पाप और भी तीव्र गति से बढ़ेगा। हम सब एक नाव में बैठे हैं, यदि इन बैठने वालों में से कोई नाव के पेंदे में छेद करे या उछल-कूद मचाकर नाव को डगमगाये, तो बाकी बैठने वालों का कर्तव्य है कि उसे ऐसा करने से रोकें। यदि न रोका जायेगा, तो नाव का झूबना और सब लोगों का संकट में पड़ना संभव है। यदि उस उपद्रवी व्यक्ति को अन्य लोग नहीं रोकते हैं, तो उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं है कि क्या करें, हमारा क्या कसूर है, हमने नाव में छेद थोड़े ही किया था। छेद करने वाले को न रोकना भी स्वयं छेद करने के समान ही घातक है। मनुष्य समाज परस्पर इतनी घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है कि अपना स्वयं का पाप ही नहीं, दूसरों का पाप भी उनको भुगतना पड़ता है। जयचंद और मीरजाफर की गदारी से सारे भारत की जनता को कितने लंबे समय की गुलामी की यातनाएँ सहनी पड़ी।

हमारे समाज में यदि चारों ओर अज्ञान, अविवेक, कुसंस्कार, अंधविश्वास, अनैतिकता, अशिष्टता का वातावरण फैला रहेगा, तो उसका प्रभाव हमारे अपने ऊपर न सही, तो अपने परिवार के अल्प विकसित लोगों पर अवश्य पड़ेगा। जिस स्कूल के बच्चे गंदी गालियाँ देते हैं, उसमें पढ़ने जाने पर हमारा बच्चा भी गालियाँ देना सीखकर आयेगा। गंदे गीत, गंदे फिल्म, गंदे प्रदर्शन, गंदी पुस्तकें, गंदे चित्र कितने असंख्य अबोध मस्तिष्कों पर अपना प्रभाव डालते हैं और उन्हें कितना गंदा बना देते हैं, इसे हम प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देख सकते हैं। दो वेश्याएँ किसी मुहल्ले में आकर रहती हैं और वे सारे मुहल्ले में शारीरिक या मानसिक, व्यभिचार के कीटाणु फैला देती हैं। शारीरिक न सही, मानसिक व्यभिचार तो उस मुहल्ले के अधिकांश निवासियों के मस्तिष्क में घूमने लगता है। यदि मुहल्ले वाले उन वेश्याओं को हटाने का प्रयत्न न करें, तो उनके अपने नौजवान लड़के बरबाद हो जायेंगे। बुराई की उपेक्षा करना पर्याप्त नहीं है, पाप की ओर से आँखें बंद किये रहना सज्जनता की

निशानी नहीं है। इससे तो अनाचार की आग फैलेगी और उसकी लपटों से हम स्वयं भी अछूते न रह सकेंगे।

समाज में पनपने वाली दुष्प्रवृत्तियों को रोकना केवल सरकार का ही काम नहीं है, वरन् उसका पूरा उत्तरदायित्व सभ्य नागरिकों पर है। प्रबुद्ध और मनस्वी लोग जिस बुराई के विरुद्ध आवाज उठाते हैं, वह आज नहीं तो कल मिटकर रहती है। अंग्रेजी के फौलादी चंगुल में जकड़ी हुई भारत की स्वाधीनता को मुक्त कराने के लिए—गुलामी के बंधन तोड़ने के लिए जब प्रबुद्ध लोगों ने आवाज उठाई, तो क्या वह आवाज व्यर्थ चली गई? देर लगी, कष्ट आये, पर वह मोर्चा सफल ही हुआ। समाजगत अनैतिकता, अविवेक, अंधविश्वास और असभ्यता इसलिए जीवित हैं कि उनका विरोध करने के लिए वैसी जोरदार आवाजें नहीं उठतीं जैसी राजनैतिक गुलामी के विरुद्ध उठी थीं। यदि उसी स्तर का प्रतिरोध उत्पन्न किया जा सके, तो हमारी सामाजिक गंदगी निश्चय ही दूस हो सकती है, सभ्य समाज के सभ्य नागरिक कहलाने का गौरव हम निश्चय ही प्राप्त कर सकते हैं।

हम अपनी सामाजिक कुरीतियों पर ध्यान दें तो लगता है कि लोहे की गरम सलाखों से बनी हुई जंजीरों की तरह वे हमें जकड़े हुए हैं और हर घड़ी हमारी नस-नस को जलाती रहती हैं। घर में तीन-चार कन्याएँ जन्म ले लें तो माता-पिता की नींद हराम हो जाती है। वे जैसे-जैसे बढ़ने लगती हैं वैसे ही वैसे अभिभावकों का खून सूखता चला जाता है। विवाह-विवाह-विवाह-कन्या का विवाह उनके माता-पिता के यहाँ डकैती, लूट, बरबादी होने के समान है। आजकल साधारण नागरिकों की आमदनी ही मुश्किल से हो पाती है कि वे अपना पेट पाल सकें। जितना धन दहेज के लिए चाहिए उतना जमा करना तभी संभव है, जब या तो कोई आदमी अपना पेट काटे, नंगा रहे, दवा-दारू के बिना भाग्य-भरोसे बीमारी से निपटे, बच्चों को शिक्षा न दे या फिर कहीं से बेईमानी करके लाये। इन उपायों के अतिरिक्त सामान्य श्रेणी के नागरिक के लिए उतना

धन जमा करना कैसे संभव हो सकता है, जितने की कि कन्या के विवाह में जरूरत पड़ती है—माँगा जाता है। यह संकट कौन कन्या का पिता—किस पीड़ा और चिंता के साथ पार करता है, इसके पीछे लंबी करुण कहानी छिपी रहती है। कर्ज का ब्याज, भावी जीवन में अंधेरा, शेष बच्चों की शिक्षा एवं प्रगति में गतिरोध जैसी आपत्तियों को कन्या-विवाह अपने पिता और छोटे भाई-बहिनों के लिए छोड़ जाता है। विवाह का पत्थर छाती पर से हटा दें, तो अर्थ संकट का आरा अपनी काट शुरू कर देता है। कई कन्याएँ हैं तब तो जीवित ही मृत्यु है। मृत्यु एक दिन कष्ट देकर शांति की गोद में सुला देती है, पर यह जीवित मृत्यु तो पग-पग पर काटती, नोचती, छेदती और चीरती ही रहती है।

हमारे हिंदू समाज में विवाह-शादी के अवसर पर जैसा अंधापन और बावलापन छा जाता है, उसे देखकर हैरत होती है। पृथ्वी के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक घूम जाइए, कोई भी देश, कोई भी धर्म, कोई भी समाज ऐसा न मिलेगा, जहाँ विवाह शादियों के अवसर पर पैसे की ऐसी होली जलाई जाती हो जैसी हमारे यहाँ पर जलाई जाती है। बारात की निकासी, आतिशबाजी, बाजे, नाच, स्वांग, दावत-जाफत देखकर ऐसा लगता है कि यह शादी वाले कोई लखपती, करोड़पति हैं और अपने अनाप-शनाप पैसे का कोई उपयोग न देखकर उसकी होली जला देने पर उत्तर आये हैं। जिन्हें अपने बच्चों का लालन-पालन और शिक्षण दुर्लभ है, वे यदि ऐसे स्वांग बनायें जैसे कि विवाह के दिनों में आमतौर से बनाये जाते हैं, तो उसे समझदारी की कसौटी पर केवल 'उन्माद' ही कहा जा सकता है। सारी दुनिया में कहीं भी ऐसा 'सत्यानाशी विवाहोन्माद' नहीं देखा जाता। मामूली-सी रस्म की तरह, एक बहुत छोटे घरेलू उत्सव की तरह लोग विवाह-शादी कर लेते हैं। भार किसी को नहीं पड़ता, तैयारी किसी को नहीं करनी पड़ती। पर एक यह है, जिनके जीवन में बच्चों का विवाह ही जीवन भर भारी

समस्या बना रहता है और इसी उलझान को सुलझाते-सुलझाते मर-खप जाते हैं।

यह एक कुरीति की चर्चा हुई। ऐसी अगणित कुरीतियाँ हमें धेरे हुए हैं। स्वास्थ्य सुधार के लिए, शिक्षा के लिए, मनोरंजन के लिए, दूसरों की भलाई के लिए, आत्म कल्याण के लिए हम कुछ कर नहीं पाते। आधी से अधिक कमाई उन व्यर्थ की बातों में बर्बाद हो जाती है, जिनका कोई प्रयोजन नहीं, कोई लाभ नहीं, कोई परिणाम नहीं। धर्म के नाम पर हमारे मनों में जो उच्चकोटि की भावनाएँ उठती हैं, दान देने की जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उनका लाभ ज्ञान और धर्म बढ़ाने वाले, पीड़ित-पतितों को राहत देने वाले कार्यों की वृद्धि के रूप में विकसित होना चाहिए था, पर होता इससे सर्वथा विपरीत है। काल्पनिक सञ्जबाग दिखाकर, संडे-मुसंडे लाल-पीले कपड़े पहनकर लोगों को ठगते रहते हैं। भोले लोग समझते हैं—धर्म हो गया, पुण्य कमा लिया, पर वास्तविकता ऐसी कहाँ होती है ? धूर्त लोगों को गुलछर्र उड़ाने के लिए दिया हुआ धन भला धर्म कैसे हो जायेगा ? पुण्य कर्म कैसे माना जायेगा ? जिसका परिणाम न तो ज्ञान की सत्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि हो और न पीड़ितों को कोई राहत मिले, वह कार्य पाखंड ही रहेगा, धर्म नहीं। आज धर्म के नाम पर पाखंड का बोलबाला है और भोली जनता अपनी गाढ़ी कमाई का अरबों रुपया उसी पाखंड पर स्वाहा कर देती है। पाखंडों पर खर्च होने वाला समय और धन यदि उपयोगी कार्यों में लगे, तो उसका कितना बड़ा सत्परिणाम उत्पन्न हो ? मृत्युभोज, पशुबलि, बालविवाह, नीच-ऊँच, स्याने-दिवाने, भूत-पलीत, कन्या विक्रय, स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गंदे-गंदे गीत, पर्दा, होली में कीचड़ उछालना, दिवाली पर जुआ खेलना आदि अगणित ऐसी कुरीतियाँ हमारे समाज में प्रचलित हैं, जिनके कारण अनेक रोगों से ग्रसित रोगी की तरह हम सामाजिक दृष्टि से दिन-दिन दुर्बल होते चले जा रहे हैं।

उपर धार्मिक मान्यताओं के आधार पर प्रचलित कुरीतियों की कुछ चर्चा की गई है। राष्ट्रीय दृष्टि से स्वार्थपरता, व्यक्तिवाद, असहयोग, संकीर्णता हमारा एक प्रमुख दोष है। सारी दुनिया परस्पर

सहयोग के आधार पर आगे बढ़ रही है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह परस्पर सहयोग के आधार पर ही बढ़ा और समुन्नत हुआ है। जहाँ प्रेम, ममता, एकता, आत्मीयता, सहयोग और उदारता है वहीं स्वर्ग रहेगा। समाजवाद और साम्यवाद की मान्यता यही है कि व्यक्ति को अपने लिए नहीं—समाज के लिए जीवित रहना चाहिए। सामूहिक सुख-शांति बढ़ाने के लिए अपनी समृद्धि और सुविधा का त्याग करना चाहिए। धर्म और अध्यात्म की शिक्षा भी यही है कि व्यक्ति अपने लिए धन-वैभव जमा न करके अपनी प्रतिभा, बुद्धि, क्षमता और संपदा को जीवन निर्वाह की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए ही उपयोग करे और शेष जो बचता हो, सबको सामूहिक उत्थान में लगा दे। जिस समाज में ऐसे परमार्थी लोग होंगे वही फलेगा, फूलेगा और वही सुखी रहेगा। जहाँ स्वार्थपरता, जमाखोरी की प्रवृत्ति पनप रही होगी, वहाँ अनैतिकता के सभी कुर्कम बढ़ेंगे और फैलेंगे। सामान्य नागरिकों के स्तर से अत्यधिक ऊँचे स्तर का सुखोपभोग करने की प्रवृत्ति जहाँ भी पनपेगी, वहीं शोषण, अन्याय, दुराचार, द्वेष, संघर्ष, ईर्ष्या आदि बुराइयाँ विकसित होंगी। प्राचीन काल में जिनकी प्रतिभा अधिक कमाने की होती थी, वे अपने राष्ट्रीय स्तर से अधिक उपलब्ध धन को लोकहित के कार्यों में दान कर देते थे। जीवन की सार्थकता, सेवा कार्यों में लगी हुई शक्ति के आधार पर ही आँकी जाती थी।

आज जो जितना धनी है वह उतना बड़प्पन पाता है, यह मूल्यांकन गलत है। जिसने राष्ट्रीय स्तर से जितना अधिक जमा कर रखा है, वह उतनी ही बड़ी गलती कर रहा है। इस गलती को प्रोत्साहित नहीं, निरुत्साहित किया जाना चाहिए, अन्यथा हर व्यक्ति अधिक धनी, अधिक सुख संपन्न, अधिक विलासी होने की इच्छा करेगा। इससे संघर्ष और पाप बढ़ेंगे। सहयोग, प्रेम, त्याग, उदारता और परमार्थ की सत्प्रवृत्तियों का उन्मूलन व्यक्तिगत स्वार्थपरता ही कर रही है। इसे हटाने और उदारता, सहकारिता, लोकहित, परमार्थ की भावनाओं को पनपाने के लिए हमें शक्ति भर प्रयत्न करना होगा, तभी हमारा समाज सभ्य बनेगा अन्यथा शोषण

और विद्रोह की, जमाखोरी और चोरी की, असभ्यता फैलती ही रहेगी और मानव जाति का दुःख बढ़ता ही रहेगा।

समाजनिष्ठा, प्रेम-व्यवहार, आत्म गौरव जैसे सद्गुणों का नाम ही सभ्यता है। इसी को संस्कृति या भारतीय संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृति तो निश्चित रूप से यही है। इसी के आधार पर हम प्राचीन काल में महान् थे और जबकि अपने प्राचीन अतीत को पुनः वापस लाने के लिए, युग निर्माण के लिए हम अग्रसर हो रहे हैं, तो हमें व्यक्ति और समाज में उन्हीं गुणों का आविर्भाव एवं विकास करना होगा। पोशाक, वेशभूषा, शिक्षा, धन, पद आदि की दृष्टि से हम भले ही अपने को सभ्य मानते रहें, पर यह तो विडंबना मात्र है। सच्ची सभ्यता मानवीय गुणों के सामूहिक विस्तार पर ही निर्भर रहती है और उसी के आधार पर कोई समाज या राष्ट्र फलता-फूलता है और तभी उससे संबंधित नागरिकों का सच्चा हित साधन होता है।

सामाजिक कुरीतियों और सामूहिक दुष्प्रवृत्तियों का कायम रहना सज्जनों के लिए भी विपत्ति का कारण ही रहेगा। व्यक्ति, कितनी ही उन्नति कर ले, पतित वातावरण में वह उन्नति भी बालू की भीति की तरह अस्थिर रहेगी। जैसे हमें जितनी व्यक्तिगत उन्नति की चिंता है, उतनी ही सामाजिक उन्नति का भी ध्यान रखना होगा और उसके लिए हर संभव प्रयत्न करना होगा। इस दिशा में की हुई उपेक्षा हमारे अपने लिए ही धातक होगी। अपने समाज के सुधार पर ध्यान देना उतना ही आवश्यक है, जितना अपने स्वास्थ्य एवं उपार्जन की समस्याओं का सुलझाना। समाजगत पापों से हम निर्दोष होते हुए भी पापी बनते हैं। भूकंप, दुर्भिक्ष, युद्ध, महामारी आदि के रूप में ईश्वर भी हमें सामूहिक दंड दिया करता है और सचेत करता है कि हम अपने को ही नहीं, सारे समाज को भी सुधारें स्वयं ही सभ्य न बनें, सारे समाज को भी सभ्य बनायें।



सभ्य समाज का स्वरूप और आधार

जिस समाज में लोग एक-दूसरे के दुःख-दर्द में सम्मिलित रहते हैं, सुख-संपत्ति को बाँटकर रखते हैं और परस्पर स्नेह, सौजन्य का परिचय देते, स्वयं कष्ट सहकर दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं, उसे देव समाज कहते हैं। जब, जहाँ जन समूह इस प्रकार पारस्परिक संबंध बनाये रहता है, तब वहाँ स्वर्गीय परिस्थितियाँ बनी रहती हैं। पर जब कभी लोग न्याय-अन्याय का, उचित-अनुचित का, कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार छोड़कर उपलब्ध सुविधा या सत्ता के साधनों का अधिकाधिक प्रयोग करने लगते हैं, तब कलेश, द्वेष और असंतोष की प्रबलता बढ़ने लगती है। शोषण और उत्पीड़न का बाहुल्य होने से वैमनस्य और संघर्ष के दृश्य दिखाई पड़ने लगते हैं। पाप, दुराचार, अनीति, छल एवं अपराधों की प्रवृत्तियाँ जहाँ पनप रही होंगी, वहाँ प्रगति का मार्ग रुक जायेगा और पतन की व्यापक परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगेंगी। चातुर्य, विज्ञान एवं श्रम के बल पर आर्थिक स्थिति सुधारी जा सकती है, पर उससे उपभोग के साधन मात्र बढ़ सकते हैं। मनुष्य की वास्तविक प्रगति एवं शांति तो पारस्परिक स्नेह-सौजन्य एवं सहयोग पर निर्भर रहती है; यदि वह प्राप्त न हो सके, तो विपुल साधन-सामग्री पाकर भी सुख-शांति के दर्शन दुर्लभ ही रहेंगे।

अच्छे व्यक्तित्व अच्छे समाज में ही जन्मते, पनपते और फलते-फूलते हैं। जिस समय का वातावरण दूषित तत्त्वों से भरा होता है, उसकी अगली पीढ़ियाँ क्रमशः अधिक दुर्बल एवं पतित बनती चली जाती हैं। प्राचीन काल में जब भारत का सामाजिक स्तर ऊँचा था, तो यहाँ घर-घर में नर-रत्न जन्मते थे और हर क्षेत्र में महापुरुषों का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता था। आज जबकि नीचता और दुष्टता की परिस्थितियाँ जोर पकड़ रही हैं, तो संतानें भी उच्छृंखल, अशिष्ट, अस्वस्थ, अर्ध-विक्षिप्त एवं अनैतिक

मनोभूमि लेकर ही जन्मती हैं। बड़े होने पर उनमें से अधिकांश निकृष्ट स्तर का जीवन ही व्यतीत करते हैं। धन कमाने, पद प्राप्त करने या चातुर्य दिखाने में कोई व्यक्ति सफल हो जाए, तो भी यदि वह भावना और कर्तृत्व की दृष्टि से गिरा हुआ है, तो उसे सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय व्यक्ति ही माना जायेगा। उसकी सफलताएँ उसके निज के लिए सुविधाजनक हो सकती हैं, पर उनसे देश, धर्म, समाज एवं संस्कृति का कुछ भी भला नहीं हो सकता।

नप्रता, सज्जनता, कृतज्ञता, नागरिकता एवं कर्तव्य-परायणता की भावना से ही किसी का मन ओत-प्रोत रहे, ऐसे पारस्परिक व्यवहार का प्रचलन हमें करना चाहिए। दूसरों के दुःख-सुख समझें और एक दूसरे की सहायता के लिए तत्परता प्रदर्शित करते हुए संतोष अनुभव करें, ऐसा जनमानस निर्माण किया जाना चाहिए। आदर्शवादी आचरण में एक-दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयत्न करें, यह प्रतिस्पर्धा तीव्र की जानी चाहिए। पश्च-प्रवृत्तियों का उन्मूलन और मानवीय सभ्यता का अभिवर्धन निरंतर होता रहे, ऐसी योजनाएँ प्रचलित करने पर ही हम नव-निर्माण का लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। संस्कृति पर ही संपन्नता निर्भर रहती है, यह हमें कभी भी भूलना नहीं चाहिए।

नशेबाजी, फैशन-परस्ती, सिनेमा, शान-शौकत तथा विलासिता की अनेक वस्तुओं में लोग पैसे को पानी की तरह बहाते हैं और पीछे आर्थिक तंगी का रोना रोते रहते हैं। आमदनी बढ़ाने के लिए सरकारी और गैर-सरकारी योजनाएँ बन रही हैं, वेतन वृद्धि की माँग जोरों पर है, पर जब तक मितव्यिता और एक-एक पैसे के सदुपयोग की प्रवृत्ति न पनपेगी तब तक आर्थिक संकट का निवारण किसी भी प्रकार संभव न हो सकेगा। अपव्ययी लोगों के लिए तो कुबेर जितनी संपदा भी कम ही पड़ती रहेगी।

अमीरी का सम्मान—यह हमारा एक ऐसा दूषित सामाजिक दृष्टिकोण है, जिसके कारण लोग अनुचित रीति से भी धन कमाने में संकोच नहीं करते। धनी लोग अपने धन के द्वारा सुख भोगें, इसमें हर्ज नहीं, पर उन्हें इसी कारण सम्मान गौरव मिले कि वे धनी हैं, तो यह अनुचित है। सम्मान केवल परमार्थी, सदाचारी लोगों के लिए सुरक्षित रहना चाहिए। उन बेचारों को यदि यह भी न मिल सका, तो उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए तथा नये लोगों को श्रेष्ठता की ओर आकर्षण उत्पन्न करने के लिए कोई माध्यम न रह जायेगा। जिस समाज में मनुष्य की महत्ता का मूल्यांकन धन के आधार पर होता है, वह कभी उच्चस्तरीय प्रगति कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता। आज हमारे समाज में लोकसेवी, आदर्शवादी मान नहीं पा रहे हैं और जिनके पास धन है, वे उसकी मनमानी लूट मचा रहे हैं, इस स्थिति से समाज का स्तर गिर जाने का भारी खतरा विद्यमान है। हमें समय रहते इस ओर से सावधान हो जाना चाहिए।

संपूर्ण समाज का छोटा रूप एक परिवार है। परिवार के रूप में समाज के एक छोटे अंग को सुविकसित करने का उत्तरदायित्व प्रत्येक गृहस्थ के कंधे पर रखा हुआ है। इसलिए जहाँ परिवार का भरण-पोषण करने का ध्यान रखा जाता है, वहाँ उसके गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने का प्रयत्न भी गृहपति को करना ही चाहिए। आज इसी की सबसे अधिक उपेक्षा की जाती है। समाज के नव-निर्माण के लिए यह नितांत आवश्यक है कि अपने-अपने परिवार के नव-निर्माण कार्य में प्रत्येक गृहस्थ पूरी-पूरी रुचि लेने लगे। इसके लिए सर्वप्रथम पति-पत्नी को पतिव्रत और पत्नीव्रत की शपथ लेनी पड़ेगी। दोनों को दो शरीर एक प्राण होकर इतना आदर्श, इतना प्रेमपूर्ण, इतना सहयोग भरा जीवन बनाना पड़ेगा कि परिवार निर्माण की गाड़ी ठीक तरह लुढ़कने लगे। अपने अनुकरणीय आदर्श से पति-पत्नी सारे परिवार को प्रगतिशील बना सकते हैं। बालकों में

भी सुसंस्कार पैदा करने हैं तो पहले माता-पिता को उन्हें अपने स्वभाव का अंग बनाना होगा, तभी बच्चे उनका अनुसरण करते हुए वास्तविक प्रशिक्षण प्राप्त कर सकेंगे। समाज की नवरचना दांपत्य जीवन को परिष्कृत करने से होगी और इसके लिए पत्नी को सुधारने से पूर्व अपने को सुधारना होगा। इस प्रकार आत्मनिर्माण की प्रक्रिया आरंभ करके परिवार, समाज एवं आगामी पीढ़ी को सुसंस्कृत-समुन्नत बना सकना संभव होगा। यह विचार हमें जनमानस में भली प्रकार हृदयंगम करा देना चाहिए। समाज के नव-निर्माण का मूल आधार यही है।

समय की पाबंदी, वचन का पालन, पैसे का विवेकपूर्ण सदव्यय, सज्जनता और सहिष्णुता, श्रम का सम्मान, शिष्टाचार पूर्ण व्यवहार, ईमानदारी की कमाई, अनैतिकता से घृणा, प्रसन्नतापूर्ण मुखाकृति, आहार और विहार का संयम, समूह के हित में स्वार्थ का परित्याग, न्याय और विवेक का सम्मान, स्वच्छता और सादगी यह हमारे सामाजिक गुण होने चाहिए। जिस समुदाय में यह सद-प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय गुण का रूप धारण कर लेती हैं, उनका विकास स्वल्प साधनों से ही हो जाता है, किंतु यदि इनका अभाव रहा, तो प्रगति के अगणित साधन उपलब्ध होते हुए भी वह समाज दिन-दिन दुर्गति की ओर ही खिसकता जाता है।

सभ्य समाज वह है जिसमें हर नागरिक को अपना व्यक्तित्व विकसित करने एवं प्रगति पथ पर बढ़ने के लिए समान रूप से अवसर मिले। इस मार्ग में जितनी भी बाधाएँ हों, उन्हें हटाया जाना चाहिए।

लिंग भेद के कारण स्त्रियों को, जाति भेद के कारण शूद्रों को, आर्थिक असमानता के कारण गरीबों को मन मारकर आगे बढ़ने की क्षमता होते हुए भी विवश रुक बैठना पड़ता है। हमें सामाजिक न्याय का ऐसा प्रबंध करना होगा कि हर व्यक्ति निर्बाध गति से प्रगति का समान अवसर प्राप्त कर सके। धन

का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि किसी को न तो मुफ्तखोरी या आलस्य में पड़े-पड़े गुलचर्चे उड़ाने की सुविधा मिले और न कोई श्रम की चक्की में पिस जाने पर भी भोजन-वस्त्र से वंचित रह जाया करे। शोषक और शोषित का वर्ग मिटाना चाहिए और हर व्यक्ति को अपने श्रम का उचित लाभ मिलने की सुविधा रहनी चाहिए। ऐसा समाज ही सभ्य समाज कहलाने का अधिकारी बन सकता है।

हमारी सामाजिक क्रांति का अर्थ हिंदू जाति में प्रचलित कुछ कुरीतियों को हटा देने मात्र तक सीमित नहीं रहना चाहिए, वरन् एक सभ्य, सुविकसित एवं सुसंस्कृत समाज की रचना होनी चाहिए। यदि अनैतिक दुष्प्रवृत्तियाँ प्रचलित रहीं, तो कोई कुरीतियाँ मिटा भी दी जाएँ, तो अन्य प्रकार की अन्य तरीके की बुराइयाँ फिर उठ खड़ी होंगी; किंतु यदि सज्जनता को जनमानस का सहज स्वभाव बनाया जा सका, तो आज की भयंकर दिखाई देने वाली कुरीतियाँ अनायास ही नष्ट हो जायेंगी।



समाज को शक्तिशाली बनायें

मानव जीवन की समृद्धि, विकास, कल्याण और उसके व्यष्टि से समष्टि की ओर, आत्मा से परमात्मा की ओर, द्वैत से अद्वैत की ओर विस्तीर्ण होने में ही सन्निहित है। ‘यौ वै भूमा तत्सुखम्’ भूमा में—अनंत में विस्तार पाना ही सुख है और यह विस्तार जब इतना व्यापक हो जाता है कि मनुष्य के सभी द्वैत-द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं, तब वह स्वयं भी अद्वैत बन जाता है। ऐसी स्थिति में सब उसके और वह सबका बन जाता है। व्यक्तिवाद, स्वार्थपरता, अपना-परायापन का मतलब है—संकीर्णता, सीमितता और इसका परिणाम है असुरक्षा, अशांति, दुःख। समत्व, ऐक्य, अद्वैत का अर्थ है—इसी भाँति सुख-शांति और समृद्धि। इसीलिए जीवन दर्शन के आचार्य-ऋषि ने मनुष्य को समष्टिगत जीवन बिताने का निर्देश दिया है।

अद्वैत की-एकता की ऐसी महान् भावना ही हमारे जीवन की मूल आधार शिला है। भारतीय धर्म, दर्शन, समाज व्यवस्था, संस्कृति की मूल प्रेरणा ही अद्वैत की भूमि में विस्तृत होने की विशाल भावना रही है।

धरती पर जीवन की बनावट ही कुछ ऐसी है कि वह अपने आप में सिमटकर नहीं रह सकता। संपूर्ण समाज-सृष्टि से वह प्रभावित होता है, और उससे संपूर्ण समाज। जिस तरह श्वास-प्रश्वास का संबंध विश्वव्यापी वायु तत्त्व से जुड़ा हुआ है, उसी तरह से मनुष्य का जीवन समष्टि के साथ जुड़ा हुआ है और वह स्वयं भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने आस-पास की दुनिया को प्रभावित करता है। इस तरह व्यक्ति का विकास समष्टि के जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। वह जितना इस कड़ी को मजबूत करेगा, उतना ही वह अपने और समाज के जीवन को समृद्ध, विकसित करेगा। मनुष्य जितना अपने जीवन को समष्टि के साथ

व्यापक बनाता जाता है, वह उतनी ही उच्च कक्षा में प्रवेश करता है। महानता की सीढ़ी पर पैर रखता है।

आस-पास का क्षेत्र जिसे समाज कहा जाता है, उसका हमारे व्यक्तित्व के विकास में बहुत बड़ा हाथ होता है। इसलिए प्रतिदान स्वरूप मनुष्य का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह उस संस्थान को अधिकाधिक समर्थ और समृद्ध बनाये, ताकि वह व्यक्ति के निर्माण एवं विकास में अपना पूरा-पूरा हक निभा सके।

अपने स्वार्थ, अपनी ही मान्यताओं, अपने ही लाभ में आसक्त रहने वाला मनुष्य समाज को तो कमजोर करता ही है, साथ ही अपनी प्रगति में भी बाधक बनता है। वह स्वयं अपनी ही परिधि में गिरफ्तार रहकर समाज के साधनों से लाभ नहीं उठा पाता इसलिए पिछड़ जाता है, अविकसित रह जाता है। इसीलिए व्यक्तिवादी स्वार्थमयी भावना का विरोध करते हुए ऋषि ने कहा था—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वधइत्सतस्य ।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥

ऋ० १०, ११७, ६ ॥

“संकीर्ण मनोवृत्ति वाले के पास धनराषि व्यर्थ है। अपने ही घर में उसने यह अन्न इकट्ठा नहीं किया है, वरन् अपनी मृत्यु को ही एकत्र किया है। जो अपने भाई-बहन को नहीं देता, योग्य व्यक्तियों को नहीं देता और अपना ही ध्यान रखता है, वह पाप रूप है।”

समाज को अभावग्रस्त देखकर भी हम अपना घर भर रखें, तो यह अपनी मौत को निमंत्रण देना है, क्योंकि दुर्बल समाज हमारी रक्षा नहीं कर सकता। इसके साथ ही एक न एक दिन समाज के कोप का भी माजन बनना पड़ेगा। ऐसे स्वार्थी लोगों को

दूसरों का सहयोग-आत्मीयता मिलना तो असंभव ही है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि अपने समाज के हित में अपना हित समझा जाए, उसकी समृद्धि-विकास में ही मनुष्य का विकास निहित है।

समष्टि में विस्तार पाने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है— सामूहिकता की भावना की। हमारा दृष्टिकोण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनेपन से प्रेरित न होकर समष्टिगत हो। हम जो भी करें— उसका प्रभाव समाज पर क्या पड़ेगा ? यह विचार करना आवश्यक है। इस तरह के सभी प्रयत्न त्याज्य हैं, जिनमें हम अपने लाभ की साधना से समाज के हितों को नुकसान पहुँचाते हों। समाज में जहाँ अन्य लोगों को सरलता से पेट भरने को अन्न न मिले और हम अपने भंडारों में अन्न संग्रहीत करें, समाज के बहुत बड़े वर्ग को जहाँ रोटी, कपड़ा, आवश्यक शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था न हो और हम अपने लिए कोठी-बँगले, आमोद-प्रमोद के साजो-संरजाम एकत्र करें, तो यह ऋषियों की भाषा में पाप होगा। किसी भी स्थिति में हमें उन कार्यों से बचना चाहिए, जिनसे अपने लाभ के लिए संपूर्ण समाज का ही अहित कर रहे हों।

हमारे समाज शिल्पी ऋषियों ने स्थान-स्थान पर हमें आदेश देते हुए कहा है “संगच्छधं सं वदध्वं” तुम्हारी गति और वाणी में एकता हो। “समानी प्रजा सहवोऽन्न-भागः”। तुम्हारे खाने-पाने के स्थान व भाग एक जैसे हों। “समानो मंत्रः समितिः समानी”। तुम्हारी सभा-समितियाँ एक समान हों और तुम्हारे विचारों में सामंजस्य एकरूपता हो। “समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः” तुम्हारे हृदय के संकल्प-भावनाएँ एक-सी हों। सामूहिक जीवन की समृद्धि के लिए, समाज के विकास के लिए हम सबमें एकता-समानता की भावना का होना आवश्यक है। आवश्यकता इस बात

की है कि हम सबमें बंधुत्व की भावना का उदय हो। वेद में कहा भी गया है।

“अज्येष्ठासोऽकनिष्ठासएते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय”

हम सब प्रभु की संतान एक-दूसरे के भाई-भाई हैं। हम में न कोई छोटा है न कोई बड़ा। हम सब एक हैं, ऐसी उत्कृष्ट भावना का होना समाज की समृद्धि के लिए आवश्यक है। रुद्र सूक्त का प्रणेता ऋषि तो समाज की सेवा करने वालों की भी नमस्कार करता हुआ कहता है “चर्मकारेभ्यो नमो, स्थकारेभ्यो नमो, कुलालेभ्यो नमो।” अर्थात् “अरे चमार—तुझे नमस्कार है, बढ़ई—तुझे नमस्कार है, कुम्हार—तुझे नमस्कार है।” ऋषि किसी को अस्पृश्य नहीं मानता, वरन् वह समाज की किसी भी रूप में कर्म कर पूजा करने वाले को वंदनीय समझता है। इतना ही नहीं, वह तो पतितों को भी नमस्कार करता है ‘स्ते ना वां पतये नमो।’ चोरों और चोरों के नायकों को भी प्रणाम करता है ऋषि। क्यों ? आखिर चोर भी तो समाज के अंग हैं, मनुष्य हैं और सामाजिक कारणों से ही वह चोर बनते हैं। ऋषि पागल नहीं थे, वे अद्वैत के द्रष्टा थे, उन्होंने इसे अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया था। इसीलिए तो वाल्मीकि जैसे डाकू में भी उन्होंने तनिक से संपर्क मात्र से उसके ऋषि तत्त्व को जगा दिया था।

जहाँ सामूहिकता, अद्वैत की भावना नहीं रहती, मनुष्य में अपना और परायापन का भाव आ जाता है, वहाँ संघर्ष, छीना-झपटी, द्वेष-दुर्भावनाओं को प्रोत्साहन मिलता है। वहाँ अनेकों अवांछित तत्त्व पैदा हो जाते हैं। क्रांति का उदय भी इसी से होता है और इन परिस्थितियों में समाज को अशांति के दौर से गुजरना पड़ता है, फिर वे लोग जो अपने लिए ही संग्रह करके रखते हैं, उनका भी अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। बहुधा उन्हें समाज का कोप भाजन बनना पड़ता है।

किसी भी रूप में विषमताएँ, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, अपने-पराये की भावनाएँ सामाजिक जीवन के लिए भयंकर विष हैं और यह भी निश्चित है कि इनके रहते कोई भी समाज-सुरक्षा, शांति, समृद्धि की ओर अग्रसर नहीं हो सकता।

हम अपने और समाज के बीच इन विषमताओं को जितना हटाते जायेंगे, जितना हम समाज के साथ घुलते जायेंगे उतना ही समाज-शक्तिशाली समर्थ बनेगा और वह हमारे विश्वास-समृद्धि में अपना पूरा-पूरा योगदान दे सकेगा। समाज को अपना कुटुंब मानकर 'बसुधेव कुटुंबकम्' की भावना को जगाना होगा, तब सबके सुख में हमारा सुख होगा, सबके हित में हमारा हित होगा।



लोकमानस की शुद्धि कौन करेगा ?

संसार के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए एक विशेष योग्यता और शक्ति की आवश्यकता होती है। अनेक व्यक्ति कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करने की आकांक्षा तो करते हैं, पर उनको पूर्ण करने के लिए जिस क्षमता एवं शक्ति की आवश्यकता है, उसे संपादित नहीं करते, फलस्वरूप उन्हें सफलता से भी वंचित ही रहना पड़ता है। जिन्होंने भी कोई बड़ा पुरुषार्थ किया है, बड़ी विजय प्राप्त की है—उन्होंने तात्कालिक परिस्थितियों से ही सब कुछ नहीं कर लिया होता, वरन् उनकी पूर्ण तैयारी ही उस सफलता का मूल कारण रही होती है।

आसुरी प्रकृति की बढ़ने और फैलने की शक्ति, दैवी प्रकृति से अधिक है। कुविचारों और कुकर्मों की ओर मन जितनी आसानी से आकर्षित होता है, उतना सद्विचारों और सत्कर्मों की ओर नहीं। बुराइयों में उठे हुए अपने प्रत्यक्ष आचरण द्वारा बुराइयों को बढ़ाने और फैलाने वाले व्यक्ति, संख्या और सक्रियता की दृष्टि से अग्रगामी रहते हैं। इसके विपरीत अच्छाइयों से परिपूर्ण, उच्च मनोभूमिका वाले ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं, जो अपने साथी बनाने और बढ़ाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहें। परिणाम यह होता है कि संसार में धीरे-धीरे बुराइयाँ बढ़ती रहती हैं, अच्छाइयों की तुलना में उनकी मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। तब नाना प्रकार के क्लेश, कलह और शोक, संताप बढ़ते और सर्वत्र दुःख-दारिद्र की आधि-व्याधि की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हें देखकर सहदय सत्पुरुष द्रवित होते हैं और उन विषम परिस्थितियों का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषि, मुनि, संत, महात्मा, नेता, सुधारक, देवदूत, लोकसेवी प्रकृति के मनुष्य सदा यही प्रयत्न करते हैं कि संसार में बुराइयाँ घटें और उनके स्थान पर अच्छाइयों की अभिवृद्धि हो, ऐसे प्रयत्न सफल भी होते हैं और उनके सत्प्रयत्नों से काफी समय तक के

लिए शांतिमय सतोगुणी वातावरण उत्पन्न हो जाता है। आनंद और उल्लास का सभी को अनुभव होता है।

जनमानस में से दुष्प्रवृत्तियों को हटाकर उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की स्थापना करना, अत्यंत ही उच्चकोटि का अत्यंत ही महत्वपूर्ण कार्य है। उसकी तुलना में और सभी सत्कार्य तुच्छ बैठते हैं। विवेकशील उच्च आत्माएँ समय-समय पर इस आवश्यकता को अनुभव करती हैं और वे लोकमानस में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करती रहती हैं। यह कार्य जितना ही महान् है, उतनी ही महान् क्षमता और शक्ति भी इसके लिए अपेक्षित होती है। यदि उसका अभाव रहा, तो इस प्रकार की कामना और भावना रहते हुए भी कुछ विशेष सफलता नहीं मिलती।

आज का वातावरण बहुत हद तक दूषित हो चला है। उसमें आसुरी तत्त्व एक बड़ी मात्रा में उत्पन्न हो गये हैं। अनीति, अन्याय अधर्म और अकर्म का चारों ओर बोलबाला है। स्वार्थ, पाप, वासना, तृष्णा, ममता और अहंकार की तूती बोल रही है। एक-दूसरे का शोषण करके, सताकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में कटिबद्ध हो रहे हैं। प्रेम की, उदारता, सहदयता, सेवा और सज्जनता की मात्रा दिन-दिन घटती जा रही है, फलस्वरूप ऐसी घटनाओं की बाढ़ आ रही है, जिनमें चीत्कार एवं हाहाकार की भरभार रहती है। लगता है कि यह प्रवृत्तियाँ बढ़ती रहीं, तो मानव सम्यता ही खतरे में पड़ जायेगी। विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में विनाश की भी एक बड़ी शक्ति दे दी है। एटम शक्ति के आधार पर किसी सिरफिरे का एक छोटा-सा पागलपन कुछ ही क्षणों में सारे संसार के लिए तबाही उत्पन्न कर सकता है। ऐसे जमाने में इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि लोग सज्जनता और मानवता के आवश्यक गुणों से संपन्न हों अन्यथा विज्ञान से प्राप्त हुई शक्ति के सहारे दुर्गुणों से ग्रसित मानव शोक-संताप के गहन गर्त में आसानी से बात की बात में ढूब मरने की परिस्थिति पैदा कर लेगा।

इस ओर विवेकशील लोगों का ध्यान गया है। वे लोग सुधार के लिए अपने-अपने ढंग से काम भी कर रहे हैं। प्रवचन और लेख द्वारा यह कार्य सरल हो सकता है। उस विचार से अनेकों उपदेशक, प्रवचनकर्ता, लेखक, पत्रकार बहुत प्रयत्न कर रहे हैं। अनेकों सभा-सोसायटियाँ इसी उद्देश्य के लिए विविध-मनोरंजक आयोजनों की व्यवस्था करती रहती हैं। सरकारें भी इसके लिए सचेष्ट हैं। राजनैतिक कर्णधार जनता को सज्जनता अपनाने की अपीलें करते रहते हैं। उनके प्रचार साधन, रेडियो, चलचित्र, बुलेटिन, विज्ञानी पत्रिकाएँ आदि कार्य भी इसी उद्देश्य के लिए बहुत व्यय और प्रयत्न करते हैं, किंतु जब विचारपूर्वक इन सब कार्यों के परिणामों को देखा जाता है, तो भारी निराशा होती है। लगता है कि प्रयत्न की तुलना में परिणाम की मात्रा बहुत ही नगण्य है। बुराइयाँ जितनी तेजी से बढ़ रही हैं और सुधार के प्रयत्न जिस प्रकार निष्फल से सिद्ध हो रहे हैं, उसे देखते हुए हर विचारशील व्यक्ति के मन में निराशा होना स्वाभाविक है।

यह प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है कि लोकमानस में से दुष्प्रवृत्तियों को हटाकर उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों को स्थापित करने का वास्तविक उपाय क्या है ? इसके उत्तर ढूँढ़ने के लिए हमें इतिहास के पृष्ठ उलटने पड़ेंगे और यह देखना पड़ेगा कि जिन महापुरुषों ने इस प्रकार की विषम परिस्थितियों से अपने समय में जनमानस को सुधारा था, उनमें क्या विशेषता थी, जिसके कारण वे स्वल्प साधनों से ही चमत्कार उत्पन्न कर सके, जबकि हमारे आज के सुधारक विविध-साधनों से संपन्न होने पर भी कुछ कर नहीं पा रहे हैं।

पूर्वकाल में लाखों-करोड़ों वर्षों तक सतयुग की सुख-शांति भरी परिस्थितियाँ इस संसार में बनी रही हैं। इसका कारण एक ही रहा है कि उस समय के लोकनायक, मार्गदर्शक आत्मशक्ति से संपन्न रहे और वाणी से नहीं अपनी आंतरिक महानता की किरणें फेंककर मानस को प्रभावित करते रहे, मस्तिष्क की वाणी मस्तिष्क

तक पहुँचती है और आत्मा की आत्मा तक। कोई सुशिक्षित व्यक्ति अपनी ज्ञान शक्ति का लाभ सुनने वालों की जानकारी बढ़ाने के लिये दे सकता है, पर अंतःकरण में जमी हुई आस्था में हेर-फेर करने का कार्य ज्ञान से नहीं आत्मिक शक्ति से ही संपन्न होना संभव हो सकता है। प्राचीन काल के लोकनायक ऋषि-मुनि इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे इसलिए वे दूसरों के उपदेश देने में, उनकी बाह्य सेवा करने में जितना समय खर्च करते थे, उससे कहीं अधिक प्रयत्न वे अपना आत्मबल बढ़ाने के लिए तप करने में लगाते थे। तप से ही वह आत्म शक्ति प्राप्त होती है, जिसकी प्रेरणा से किसी के मन पर जमे हुए बुराइयों के आर्कषक कुसंस्कारों को हटाकर अच्छाइयों के कष्टसाध्य मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी जा सके।

उस समय जबकि लोकनायकों ने जनता के विचारों और कार्यों को उच्च स्तर पर स्थिर रखने में वास्तविक सफलता प्राप्त की थी, तप-साधना का महत्त्व भली प्रकार समझा जाता था। प्रत्येक ऋषि इस ओर दत्तचित्त रहता था। वह जानते थे कि यदि तप के अभाव में हमारी आत्मा दुर्बल रही, तो प्रवचन मात्र से कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा। आज के उपदेशक जिस प्रकार अपनी चतुरता, योजना, दौड़-धूप, संगठन शक्ति या भाषण शैली पर विश्वास करके उन्हीं के सहारे सब कुछ कर लेने की बात सोचते हैं और स्वयं विलासी जीवन बिताते हुए जनता को अंधी भेड़ों की तरह चाहे जिधर हाँक ले जाने की बात सोचते हैं। प्राचीन काल में कोई उस तरह नहीं सोचता था। जो कोई भी नेता बनने की महान् जिम्मेदारी अपने कंधे पर लेने की बात सोचता था, वह सबसे पहले अपने आपको तपस्या से तपा डालने की तैयारी करता था। इस माध्यम से वह अपने को जितना ही पवित्र करता चलता था, उतना ही कदम लोकसेवा के लिये मानस को उत्कृष्ट बनाने के लिए उठाता था।

प्राचीन काल के इतिहास-पुराणों में यह तथ्य बिलकुल स्पष्ट है। पिछले दो हजार वर्षों में भी इसी आधार पर जनमानस का सुधार एवं परिवर्तन करना संभव होता रहा है। भगवान् बुद्ध के मन में अपने तथा संसार के दुःखों का निवारण करने की आकांक्षा जगी। इसके लिए वे २५ वर्ष की आयु में घर से निकल पड़े और २० साल तक निरंतर विभिन्न स्थानों पर आत्मनिर्माण एवं तप साधना में संलग्न रहे। ४१ वर्ष की आयु में उन्होंने अपने अंदर परिपक्वतां अनुभव की, तो दूसरों को शिक्षा देने के कार्य में हाथ लगाया। भगवान् महावीर ने अपनी आयु का तीन चौथाई भाग तप में और एक चौथाई भाग धर्मोपदेश में लगाया। इन दोनों महापुरुषों ने उपदेश उतने नहीं दिये जितने आज के मामूली उपदेशक दे लेते हैं, फिर भी उनका प्रभाव पड़ा और आज भी संसार की एक चौथाई जनता उनकी शिक्षाओं पर आस्था रखती है।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने उत्तराखण्ड में जोशीमठ स्थान पर उग्र तप किया था। वे बत्तीस वर्ष की आयु लेकर आये थे। विद्या पढ़ने के बाद लगभग १२ वर्ष उनके जीवन में काम करने के लिए शेष थे, इसमें से भी आधा समय उन्होंने तप में लगाया और शेष ६-७ वर्षों में ही अपनी आत्म शक्ति के बल पर वैदिक धर्म के उद्धार के लिए अत्यंत प्रभावशाली कार्य कर डाला। गुरु नानक की तपश्चर्या प्रसिद्ध है। गुरु गोविंद सिंह ने हिमालय में लोकपत स्थान पर जहाँ घोर तप किया था, वह स्थान आज भी सिख धर्मानुयायियों का तीर्थ बना हुआ है। यदि इन गुरुओं के पास तप की पूँजी न रही होती, तो वे दुर्धर्ष यवन काल में हिंदू धर्म की रक्षा के लिए इतना अद्भुत कार्य करं सकने में कदापि समर्थ न हो सके होते।

समर्थ गुरु रामदास ने छत्रपति शिवाजी सरीखे कितने ही महापुरुष तैयार किये थे। इतिहास के पृष्ठों पर उनमें से अकेले शिवाजी ही चमके, पर उस तरह के सैकड़ों धर्मसैनिक उन्होंने बना कर दिये थे। इस निर्माण में उनकी आस्था का प्रभाव ही प्रधान रूप

से काम करता था। स्वामी दयानंद १६ वर्ष की आयु में घर से निकले और ४२ वर्ष की आयु में अपने आपको धर्म प्रसार के योग्य बना सके। संवत् १६२४ के कुंभ में हरिद्वार में उन्होंने पाखंडखंडिनी पताका फहराई और धर्मोपदेश दिये, पर उनका कुछ विशेष प्रभाव न पड़ा। इसका कारण उन्होंने अपने आत्मबल की न्यूनता समझी और तीन वर्ष के लिये पुनः तप करने उत्तराखंड के अज्ञात स्थानों को चले गये। गंगोत्री के पास कराली की गुफाओं में रहकर उन्होंने तपस्या की और जब अंदर प्रकाश देखा, तो कार्य क्षेत्र में उत्तरे। उस समय उनकी वाणी में दैवी तेज था। उसी के बल पर वे अकेले ही इतना कार्य कर गये, जितना अनेकों संगठित सभायें मिलकर भी आज नहीं कर पा रही हैं।

रामकृष्ण परमहंस ४६ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए, ४० वर्ष की आयु तक वे विशुद्ध रूप से साधनारत रहे। एक दिन उन्हें लगा कि उन्हें शिष्य प्राप्त होने वाले हैं। एक वर्ष वे शिष्यों की प्रतीक्षा करते रहे। अंत में उन्हें ब्रह्मानंद, शिवानंद और विवेकानंद जैसे थोड़े से प्रतिभासंपन्न शिष्य घर बैठे प्राप्त हुए और उन्हीं के सहारे उनकी आत्मा ने संसार को हिंदू संस्कृति का महान् संदेश दिया। स्वामी विवेकानंद का धर्म प्रचार कार्य प्रसिद्ध है, पर उससे पहले उन्होंने भी रामकृष्ण परमहंस के बताये अनुसार कई वर्ष तपश्चर्या करके आत्मा को तपाया था।

योगी अरविंद घोष, महर्षि रमण, स्वामी रामतीर्थ की तपश्चर्या प्रसिद्ध है। वैष्णव आचार्यों में से रामानुजाचार्य, निबार्काचार्य माधवाचार्य प्रभुति आचार्यों ने जितना ज्ञान संचय किया था, उतनी ही तप-साधना भी की थी।

संसार के अन्य वे महापुरुष जिन्होंने लोगों को आत्मा को उच्च भूमिका की ओर बढ़ाया निश्चित रूप से तपस्वी थे। महात्मा ईसा के जीवन में २७ वर्ष तपश्चर्या में लगे। मुहम्मद ने २५ साल की आयु में साधना की ओर कदम बढ़ाया। ४० साल तक वे उसी में संलग्न रहे। ६५ वर्ष की आयु में उन्होंने धर्मोपदेश और इस्लाम

की स्थापना का कार्य आरंभ किया। यहूदी धर्म के संस्थापक यहोवा और पारसी धर्म के देवदूत जरथूश्त की दीर्घकालीन कठोर तपश्चर्याएँ प्रसिद्ध हैं।

इसी प्रकार संसार में आदि काल से लेकर अब तक एक ही तथ्य समय-समय पर स्पष्ट होता रहा कि तपश्चर्या द्वारा आत्मबल संपादित करने वाली आत्माएँ ही संसार का सच्चा मार्गदर्शन करने और जनमानस को शुद्ध करने में समर्थ हो सकती हैं।

आज का लोक मानस निम्न से निम्नतर स्तर की ओर तेजी से गिरता जा रहा है, उसे सँभालने और सुधारने की नितांत आवश्यकता है, पर यह कार्य आत्मबल से रहित, तपश्चर्या से विहीन व्यक्तियों द्वारा संपन्न नहीं हो सकता, भले ही वे सभा सोसाइटियों के द्वारा, भाषणों, लेखों, योजनाओं, प्रदर्शनियों के द्वारा इसके लिए सिर तोड़ प्रयत्न करते रहें। यह महान् कार्य महान् आत्माएँ ही कर सकेंगी और महान् आत्माओं के अनेक गुणों में एक तपश्चर्या भी हैं जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अतीत और इतिहास के पृष्ठ हमें इसी ओर निर्देश करते हैं। युग निर्माण होना है, पर उसका भार वाचालों के नहीं, तपस्वियों के कंधे पर रहेगा। युग की आवश्यकता आज ऐसे ही तपस्वियों की प्रतीक्षा कर रही है।

लोकनायकों को चाहिये कि वे जनता के विचारों और कार्यों को उच्च और स्थिर रखने में अपना योग दें।



समाज सुधार के लिए प्रबुद्ध वर्ग आगे बढ़े

आज समाज ही नहीं संसार की दशा किसी से छिपी नहीं है। क्या अमीर, क्या गरीब, क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित, इस यथार्थ के विषय में सभी एक मत हैं कि आज का समाज बुरी तरह विकृत हो चुका है और संसार ऐसे विषम-बिंदु पर पहुँच गया है, कि यदि उसकी इस गति को यहीं पर रोककर ठीक दिशा में न बढ़ाया गया, तो युग-न्युग की संचित मानवीय सभ्यता का विनाश अवश्य भावी है।

वर्तमान दशा और परिवर्तन किसी के आँख-कान से परे नहीं है। आज के असहनीय कष्ट सभी देखने, सुनते और अनुभव कर रहे हैं, किंतु इस परिवर्तन की माँग को पूरा करने के लिए कौन आगे बढ़े ? यह प्रश्न सामने खड़ा होकर स्तब्धता की स्थिति उपस्थित कर देता है। निःसंदेह इस संक्रमण काल में परिवर्तन पूर्ण करने के लिए, संपूर्ण समाज का कर्तव्य है कि वह योगदान करे, किंतु यह सर्वथा सभव नहीं। इस परिवर्तन को प्रस्तुत करने के लिए समाज के एक विशिष्ट वर्ग को ही आगे बढ़ाना होगा।

समाज में तीन प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। एक तो सर्व-सामान्य जिन्हें रोटी कमाने और पेट भर लेने के अतिरिक्त दीन दुनिया की खबर नहीं रहती। संसार में रोटी ही उनका एकमात्र उद्देश्य होता है। समाज किधर जा रहा है, उसमें किन-किन सुधारों की आवश्यकता है ? इस चिंता से उनका कोई सरोकार नहीं होता। आराम से भोजन, वस्त्र मिल गया तो प्रसन्न हो गये, उसमें घाटा आ गया तो दुखी हो गये। बस यही उनका जीवन और यही उनका ध्येय होता है। ऐसे आदमियों को जड़ एवं भावनारहित कहा जा सकता है। अन्य पशु-पक्षियों और उनके जीवन में कोई विशेष अंतर नहीं होता। संसार में ऐसे लोगों की ही बहुतायत हुआ करती है। इनमें भोजन एवं प्रजनन क्रिया की प्राकृतिक प्रेरणा के अतिरिक्त कोई विशेष चेतना नहीं होती। बहुत अधिक हुआ तो

अपने बाल-बच्चों की खोज-खबर की चिंता कर ली। समाज क्या है ? राष्ट्र क्या होता है ? सभ्यता एवं सस्कृति किसे कहते हैं ? संसार में इन सबका क्या मूल्य-महत्व है ? ऐसे उच्चाशयतापूर्ण विचारों से वे न तो जरा भी परिचित होते और न उनकी चिंता कर पाते हैं।

इतना ही नहीं, समाज में फैलने वाली विकृतियाँ इसी जड़ वर्ग में जन्म लेती और पनपती हैं। यही वह जन साधारण है, जो अपनी जड़ता के कारण रोग, शोक, गरीबी-बेकारी, श्रोषण एवं संतापों से ग्रस्त रहता है और जिसके दुःख से अन्य चेतनावान् व्यक्तियों को दुःखी एवं चिंतित होना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त समाज में एक-दूसरा वर्ग भी होता है, जो उपर्युक्त वर्ग की तरह अथवा पाश्विक तो नहीं होता, अपेक्षाकृत अधिक सजग एवं सक्रिय होता है, किंतु होता है यह वर्ग बड़ा ही भयंकर ! इस वर्ग में वे लोग होते हैं; जिनकी विद्या, बल और बुद्धि तथा साधन, सुविधाएँ एकमात्र अपने निकृष्ट एवं अवांछनीय स्वार्थों में लगी रहती हैं। इस वर्ग का उद्देश्य यही रहता है कि संसार की सारी संपत्तियाँ, भोग तथा सुविधाएँ अधिक से अधिक उसी के पास रहें। वह और उनका परिवार सबसे अधिक सुखी एवं संपन्न रहे। ऐसे स्वार्थी लोग अपनी अनुचित आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए उचित-अनुचित सभी प्रकार के काम किया करते हैं। अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए किसी का बड़े से बड़ा अहित कर देने में जरा भी संकोच नहीं करते। अपने मजा, मौज और सुख-स्वार्थ के लिए दूसरों के हिस्से एवं अधिकार अपहरण कर लेना, वे अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। ऐसे ही स्वार्थी पशु समाज में चोरी, डकैती तथा अन्य प्रकार के भ्रष्टाचारों को करते और बढ़ाते हैं। इन्हीं के कारण समाज के अन्य लोग दुःखी एवं संत्रस्त रहा करते हैं। शांति एवं सुरक्षा के वातावरण को सबसे अधिक क्षति इसी वर्ग से पहुँचती है। भोले-भाले, दीन-दुःखी और निर्बलों को सताना इनके लिए एक साधारण बात होती है। समाज से सब कुछ

लेकर—उसके बदले में उसे शोक-संताप एवं कष्ट-क्लेश देना ही धर्म बन जाता है। ऐसे लोग बड़े ही क्रूर, कपटी, अकरुण एवं कृपण होते हैं। अपने और अपने प्रियजनों के अतिरिक्त किसी का हित चाहना—इनकी विचार परिधि से परे होता है। ऐसे लोगों को दुराचारी अथवा दुष्ट कहा जा सकता है। ऐसे लोगों की संख्या जड़ वर्ग से कम अवश्य होती है, किंतु समाज को संत्रस्त करने के लिए काफी होती है।

इस प्रकार के जड़ एवं दुष्ट जनसमूह की ही समाज में बहुतायत होती है। यह दोनों प्रकार के मनुष्य सामाजिकतापूर्ण नागरिक भावना से शून्य होते हैं। इनसे किसी सुधार, उपकार अथवा आदर्श कार्य की अपेक्षा नहीं की जा सकती। जो स्वयं बुरा है, व्यर्थ है, वह किसी को क्या सुधार सकता है और क्या उपयोगी हो सकता है? यथार्थ बात यह है कि यहीं दोनों वर्ग समाज में विकृतियों के कारण होते हैं और समाज-सुधार के लिए इन्हें ही सुधारने, ठीक रास्ते पर लाने के लिए प्रकाश एवं प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

इन दो के अतिरिक्त समाज में एक वर्ग और होता है, जिसे 'प्रबुद्ध-वर्ग' कह सकते हैं। यद्यपि वह वर्ग उन दो वर्गों से संख्या में बहुत कम होता है, किंतु, यदि इन्हें काम में लायें, तो इसकी शक्ति उनसे कहीं अधिक होती है। इस वर्ग की विचारधारा संकीर्ण एवं पाशांविक वृत्तियों से उठी हुई होती है। देश, धर्म, समाज एवं राष्ट्र के प्रति इस वर्ग की भावनाएँ अधिक तीव्र एवं चिंतापूर्ण होती हैं। जिन-जिन देशों में सुधारात्मक क्रांतियाँ हुई हैं, उनमें किसी ऐसे ही वर्ग की चेतना काम करती रही है।

प्रबुद्ध वर्ग को किसी भी समाज की जीवनीशक्ति कहा गया है। जिस समाज का यह वर्ग प्रमाद में पड़कर चिंता एवं प्रयत्न करना छोड़ देता है, वह समाज अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाता। इसके विपरीत जिस देश अथवा समाज का यह वर्ग सतेज, सक्रिय एवं सजग रहता है, उस समाज में पहले तो विकृतियाँ

आती ही नहीं और यदि आ भी जाती हैं, तो यह वर्ग उन्हें झाड़-बुहार कर साफ कर देता है। जनता को आदर्श का प्रकाश देना और उसे ठीक राह पर लाने वाला यह प्रबुद्ध वर्ग ही होता है।

भारतीय समाज में सदा से प्रबुद्ध वर्ग रहा है और आज भी है, किंतु फिर भी सामाजिक सुधार का कार्य नहीं हो रहा है। इसका कारण यही है कि आज भारतीय समाज का प्रबुद्ध वर्ग स्वार्थी तो नहीं हुआ, किंतु प्रमादी अवश्य हो गया है। वह समाज की चिंता तो करता है, किंतु सक्रिय कार्यक्रमों को चलाने के लिए आगे नहीं बढ़ रहा है। जहाँ-तहाँ लोग समाज की दशा और उसके सुधार की आवश्यकता पर बात करते तो देखे-सुने जाते हैं, किंतु एक होकर सुधार कार्य में रुचिवान् होते नहीं दीखते।

समाज सुधार के लिए प्रबुद्ध वर्ग में उदासीनता दिखाई देती है, उसके दो ही कारण समझ में आते हैं। एक तो आजीविका और दूसरा समाज की अतिपतित अवस्था। आजीविका के विषय में आज के समय को बहुत कठिन समय कहा जा सकता है। ईमानदार आदमी को दिनभर काम करने के बाद परिवार के गुजारे के योग्य मुश्किल से मिल पाता है। वह सोचता है कि यदि वह अपना समय समाज-सुधार के कार्यक्रमों में देने लगा, तो उसे आजीविका की पूर्ति करने में कठिनाई पड़ने लगेगी। साथ ही समाज का सर्वांगीण पतन देखकर कार्यक्षेत्र में उत्तरते उसका साहस नहीं होता। उसे शंका रहती है कि यदि आज के बुरे युग में वह अच्छाई का संदेश लेकर जाता है, तो कोई भी उसकी न सुनेगा और असफल होकर हताश अथवा उपहासास्पद होना होगा।

किंतु लोगों की यह दोनों धारणाएँ निराधार हैं। जहाँ तक भोजन का प्रश्न है, अधिकतर लोग आजीविका के लिए आठ-दस घंटे काम किया करते हैं। दस घंटे काम करने के लिए रख लिए जायें और दस घंटे सोने आदि के लिए मान लिए जायें, तब भी वह किसी के भी पास चार घंटे का ऐसा समय बच सकता है, जिनमें समाज सेवा का बहुत-सा काम किया जा सकता है। समाज सेवा

के लिए समय न होने का बहाना मात्र है, वस्तुतः इसमें कोई तथ्य नहीं है।

जहाँ तक समाज की भयावह स्थिति का प्रश्न है, उसके लिए साहस करना ही शोभनीय है। बाढ़, आगजनी आदि की आपत्ति आ जाने पर यदि उसकी भयंकरता से डरकर हाथ-पाँव छोड़कर एक तरफ हो जाया जाए, तो इसका परिणाम सर्वनाश के सिवाय और क्या हो सकता है? उस महाभयंकर आपत्तिकाल में लोग हिम्मत ब्यांधते और प्रयत्न करते ही हैं। उन्हें इसका फल अप्पत्ति निवारण के रूप में मिलता ही है। किसी सत्कार्य को करने के लिए उसके फल की चिन्हां नहीं करना चाहिए। ईमानदारी और लगान से अपना कर्तव्य करे और फल भगवान् के ऊपर छोड़ दे—यही गीता के कर्मयोग का संदेश है, जिसे हर श्रेष्ठ व्यक्ति को हृदयंगम रखना चाहिए।

आज तो केवल सामाजिक विकृतियों से लड़ना है—कुछ समय पूर्व जब महात्मा गांधी देशोद्धार के क्षेत्र में उतरे थे, तो सामाजिक विकृतियाँ तो इस प्रकार थी हीं, साथ ही समाज के पैरों में अँग्रेजी दासता की श्रृंखला भी पड़ी हुई थी। महात्मा गांधी ने तो आज से भी अधिक भयावह परिस्थिति में बिना किसी साधन के स्वाधीनता संग्राम छेड़ा था और अपने साहस, लगान एवं अध्यवसाय के बल पर सफल होकर संसार के सामने एक उदाहरण उपस्थित कर दिया। विकृतियाँ देखने में ही भयावह मालूम होती हैं, वस्तुतः उनमें कोई शक्ति नहीं होती। सत्प्रवृत्तियों का प्रकाश होते ही उनका अंधकार तो आप से आप दूर होने लगता है। प्रबुद्ध वर्ग को हर प्रकार की शंकाएँ एवं भयों को त्यागकर समाज सुधार के कार्य में लग ही जाना चाहिए।

वह हर भाग्यवान् व्यक्ति अपने को प्रबुद्ध वर्ग का नैसर्गिक सदस्य समझे, जिसकी अंतरात्मा में परमात्मा ने देश, धर्म के प्रति जागरूकता और मन-स्तिष्ठक में समाज की दयनीय दशा की पीड़ा पैदा की है। जो बुद्धिमान् अपने अंदर आदर्शवादिता, धार्मिकता,

आध्यात्मिकता, सामाजिकता एवं मानवता का कोई अंश समझता है और देश तथा समाज की वर्तमान दशा से क्षुब्धि होता है, जिसके हृदय में कुछ न कुछ उपाय करने की जिज्ञासा होती है, वह हर व्यक्ति अपने को प्रबुद्ध वर्ग का समझे और तदनुसार अपने कर्तव्य में यह समझकर लग जाए कि यदि परमात्मा हम से इस पावन कर्तव्य की अपेक्षा न करता, तो हमारी आत्मा में इस प्रकार की मंगलमयी जागरूकता न भरता।

प्रबुद्ध व्यक्ति नव-निर्माण के अन्यान्य कार्यक्रमों में से अपने योग्य कोई भी एक अथवा अनेक कार्यक्रम चुन सकता है और उसे धार्मिक भावना के साथ अपने तथा समाज के कल्याण के लिए प्रसारित कर सकता है। आज समय की माँग है कि समाज के प्रबुद्ध व्यक्ति एक या अनेक होकर समाज सुधार के किसी काम को लेकर आगे बढ़ने की प्रेरणा दें। संसार की सारी क्रांतियाँ तथा परिवर्तन प्रबुद्ध वर्ग द्वारा ही लाये गये हैं। आज भी समाज सुधार का महान् कार्य प्रबुद्ध वर्ग ही कर सकता है और उसे करना भी चाहिए।



सबकी उन्नति में अपनी उन्नति

समाज के विकास के साथ ही व्यक्ति के विकास की संभावना जुड़ी है। समाज से पृथक् रहकर अथवा उसके हित की ओर से विमुख होकर कोई व्यक्ति उन्नति नहीं कर सकता। जब-जब मनुष्यों के बीच सामाजिक भावना का हास हो जाता है, तब-तब समाज में कलह और संघर्ष की परिस्थितियाँ बढ़ने लगती हैं। चारों ओर अशांति और असुरक्षा का वातावरण व्याप्त रहने लगता है; समाज की प्रगति रुक जाती है और उसी के साथ व्यक्ति की प्रगति भी। इसी हानि से बचाने के लिए हमारे समाज के निर्माता ऋषियों ने वेदों में स्थान-स्थान पर पारस्परिक सहयोग और सद्भावना का उपदेश दिया है—बताया गया है—

“अज्येष्ठासोऽकनिष्ठासः एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय”

इस वेद वाक्य का आशय यही है कि हम सब प्रभु की संतान एक-दूसरे के भाई-भाई हैं। हममें न कोई छोटा है और न बड़ा। यह एक उत्कृष्ट सामाजिक भावना है। इसी भावना के बल पर ही तो भारतीय समाज संसार में सबसे पहले विकसित और समुन्नत हुआ। इसी भावना के प्रसाद से उसके व्यक्तियों ने संसार में सभ्यता का प्रकाश फैलाने का श्रेय पाया है और इसी बंधुत्व की भावना के आधार पर वह जगद्गुरु की पदवी पर पहुँचा है।

इसके विपरीत जब से भारतीय समाज की यह वैदिक भावना क्षीण हो गई, वह पतन की ओर फिसलने लगा और यहाँ तक फिसलता गया कि अर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक गुलामी तक भोगनी पड़ी है; किंतु अब वह समय फिर आ गया है कि भारतीय समाज अपनी प्राचीन बंधु-भावना को समझे, उसे पुनः अपनाये और आज के अशांत संसार में अपने वैदिक आदर्श की प्रतिष्ठा द्वारा शांति की स्थापना का पावन प्रयत्न करे।

शाश्वत सिद्धांत है कि दूसरों को उपदेश देने और मार्ग दिखलाने का वही सच्चा अधिकारी होता है, जिसका आचरण स्वयं उसके आदर्श के अनुरूप हो। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि पहले हम अपनी भावनाओं और व्यवहार में सुधार करें, उसमें पारस्परिक भाईचारे का समावेश करें और तब संसार के सामने वसुधैव-कुटुंबकम् का आदर्श उपस्थित करें। इस सुधार को सरल बनाने के लिए सबसे पहले व्यक्ति और समाज का संबंध समझ लेना होगा। एक के विचारों और कार्यों का दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ता है ? यह जान लेना होगा।

समाज की उन्नति पर ही व्यक्ति की भी उन्नति निर्भर है। समाज से परे अथवा पृथक् रहकर व्यक्तिगत उन्नति किसी के लिए भी संभव नहीं। जीवित रहने के लिए कुछ साधन, कुछ परिस्थितियाँ और कुछ सहयोग अपेक्षित होता है। यह सब सुविधाएँ समाज में समाज द्वारा ही प्राप्त होती हैं। एक अकेला व्यक्ति न तो इन्हें उत्पन्न कर सकता है और न इनका उपयोग ही कर सकता है। इनके लिए उसे समाज पर ही निर्भर होना होगा। विभिन्न शिक्षण संस्थाएँ, उनमें कार्य करने वाले व्यक्ति, जीवन-निर्वाह के साधन, ज्ञान-विज्ञान की सुविधाएँ, अन्वेषण, आविष्कार, व्यापार, व्यवसाय, अनुभव और अनुभूतियाँ आदि मानव विकास के जो भी साधन माने गये हैं, उनकी उत्पत्ति समाज के सामूहिक प्रयत्नों द्वारा ही होती है। किसी का मस्तिष्क काम करता है, तो किसी के हाथ-पाँव; किसी का धन सहयोग करता है, तो किसी का साहस। इस प्रकार जब पूरा समाज एक गति और एक मति होकर अभियान करता है, तभी व्यक्ति और समूह दोनों के लिए कल्याण के द्वार खुलते चले जाते हैं। एक अकेला व्यक्ति संसार में कभी कुछ नहीं कर सकता।

समाज से पृथक् रहकर अथवा समाज के सहयोग के बिना व्यक्ति एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। कोई विशेष प्रगति कर सकना तो दूर, इस पारस्परिकता के अभाव में जीवन

ही संदिग्ध हो जाए। जीवन की सुरक्षा और उसका अस्तित्व समाज के साथ ही संभव है। समाज की शक्ति का सहारा पाकर ही हमारी व्यक्तिगत क्षमताएँ एवं योग्यताएँ प्रस्फुटित होकर उपयोगी बन पाती हैं। यदि हमारे गुणों और शक्तियों को समाज का सहारा न मिले, तो वे निष्क्रिय रहकर बेकार चली जाएँ। उनका लाभ तो तब न स्वयं हमको ही हो और न समाज को। सच्ची बात तो यह है कि व्यक्तिगत जीवन नाम की कोई वस्तु ही संसार में नहीं है। हम सब व्यक्ति रूप में दीखते हुए भी समष्टि रूप में जीते हैं। व्यक्तिवाद को त्यागकर समष्टिगत जीवन को महत्त्व देना ही हम सबके लिए हितकर तथा कल्याणकारी है। समष्टिगत जीवन और समूहगत उन्नति ही हमारा ध्येय होना चाहिए। उसी को विकसित एवं शक्तिशाली बनाने में हम अपनी शक्ति, प्रतिभा, योग्यता एवं संपदा लगाएँ। हमारे योग द्वारा हमारा समाज जितना-जितना उन्नत, विकसित और शक्तिशाली बनता जायेगा, उसी अनुपात से हमारा व्यक्तिगत जीवन भी विकसित होता चला जायेगा।

समाज की शक्ति ही व्यक्ति की वास्तविक शक्ति मानी गई है। व्यक्ति का एक अकेला शक्तिशाली होना कोई अर्थ नहीं रखता। समाज जब समग्र रूप से निर्बल हो जाता है, तो उस पर सामूहिक संकटों का सूत्रपात होने लगता है। उस सामूहिक संकट से व्यक्तिगत रक्षा कर सकना संभव नहीं होता। निर्बल समाज पर जब बाहरी आक्रमण होता है अथवा कोई संक्रामक रोग फैलता है, तब व्यक्ति उससे अपनी रक्षा करने में सफल नहीं हो पाता—फिर वह अपने आप में कितना ही शक्ति एवं स्वास्थ्यशाली क्यों न हो। ऐसी समूहगत संक्रान्ति से सामूहिक रूप से ही रक्षा संभव हो पाती है। समाज की शक्ति ही व्यक्ति की वास्तविक शक्ति है। इस सत्य को कभी भी न भूलना चाहिए। अपनी शक्ति का उपयोग एवं प्रयोग भी इसी दृष्टि से करना चाहिए, जिससे हमारी व्यक्तिगत शक्ति भी

समाज की शक्ति बने और उलटकर वह व्यापक शक्ति हमारे लिए हितकारी बन सके।

समाज को शक्तिशाली बनाने के लिए हमें चाहिए कि हम अपने समग्र व्यक्तित्व को उसमें ही समाहित कर दें। जो कुछ सोचें—समाज को सामने रखकर सोचें, जो कुछ करें—समाज के हित के लिए करें। यदि हम ऐसी समष्टि प्रधान चेतना को स्थान नहीं देते और अपने व्यक्तित्व की सत्ता की अलग कल्पना कर उसी तक सीमित रहते हैं, तो एक प्रकार से समाज को निर्बल बनाने की गलती करते हैं। हमारी यह अहंकारपूर्ण भावना समाज विरोधी होगी। इसका कुप्रभाव समाज पर जो पड़ेगा—वह तो पड़ेगा ही, हम स्वयं भी इस असहयोग से अछूते न रह सकेंगे। हमारा यह सामाजिक पाप प्रकाश में आ जायेगा और तब हमको पूरे समाज के आक्रोश तथा असहयोग का लक्ष्य बनना पड़ेगा। हम जैसा करेंगे वैसा भरना होगा। इस न्याय से बच सकना संभव नहीं।

इस संकीर्ण मनोवृत्ति का कुप्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर एक प्रकार से और भी पड़ता है, वह है—उसका मानसिक पतन। ऐसे असामाजिक वृत्ति के लोगों का अंतर आलोकहीन होकर दरिद्री बन जाता है। उसके सोचने और समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है। उसकी क्षमताओं, योग्यताओं और विशेषताओं का कोई मूल्य नहीं रहता। असामाजिक भाव वाले व्यक्तियों की शक्ति को समाज अपने लिए एक खतरा समझने लगता है और कोशिश करता है कि वे जहाँ की तहाँ निष्क्रिय एवं कुठित होकर पड़ी रहें। उन्हें विकसित अथवा सक्रिय होने का अवसर न मिले। ऐसे प्रतिबंधों के बीच कोई असहयोगी व्यक्ति अपना कोई विकास कर सकता है—यह सर्वथा असंभव है। समाज के निषेध से जहाँ व्यक्ति की असाधारण शक्ति भी सीमित और वृथा बन जाती है, वहाँ समाज में समाहित होकर किसी की न्यून एवं साधारण शक्ति भी व्यापक और असाधारण बन जाती है। अपनी

एक शक्ति समाज के साथ संयोजित कर व्यक्ति असंख्य शक्तियों का स्वामी बन सकता है।

समाज को अपनी शक्ति सौंपकर उसकी विशाल शक्ति को अपनाने के लिए हमें चाहिए कि हम अपने भीतर सामूहिक भावना का विकास करें। हमारा दृष्टिकोण जीवन के क्षेत्र में अपने-पराये पर से प्रेरित न होकर समाज की मंगल भावना से प्रेरित हो। हम अपना कदम उठाने से पूर्व अच्छी तरह यह सोच लें कि इसका प्रभाव समाज पर क्या पड़ेगा ? यदि हमें अपने उस कदम में समाज का जरा भी अहित दिखलाई दे, तो तुरंत ही उसे स्थगित कर देना चाहिए। हमारे लिए वे सारे प्रयत्न त्याज्य होने चाहिए, जिनमें व्यक्तिगत लाभ भले ही दिखता हो, पर उनसे समाज का कोई अहित होने की संभावना हो।

संचय, संग्रह, मुनाफाखोरी, शोषण, झूठ और प्रपंच आदि ऐसे निकृष्ट प्रयत्न हैं, जिनमें लोभी तथा स्वार्थी व्यक्ति को अपना लाभ दिखलाई दे सकता है, किंतु इनसे समाज को बड़ी क्षति पहुँचती है। इसीलिए इन सब कार्यों को भ्रष्टाचार की संज्ञा दी गई है। ऐसे भ्रष्टाचारपूर्ण कार्य किसी भी सामाजिक एवं सज्जन व्यक्ति को शोभा नहीं देते, वे सर्वथा त्याज्य एवं अग्राह्य ही हैं। समाज में जहाँ अन्य लोगों को पेट भरने के लिए रोटी न मिले, वहाँ हम अपने भंडारों में अन्न संग्रह करते रहें ? जहाँ लोग नंगे और निराश्रय होकर फुटपाथों पर रात व्यतीत करें, वहाँ हम यदि हीटरों से गर्म कोटियों में बैठकर आमोद-प्रमोद का आनंद लेते हैं, तो हम एक असामाजिक व्यक्ति हैं, समाज के अपराधी और उसके दंड के भागीदार हैं। यह न केवल सामाजिक अपराध ही है बल्कि आध्यात्मिक पाप भी है। ऐसे असामाजिक स्वार्थी और कठोर व्यक्तियों को ही असुर और अमानव कहकर पुकारा गया है।

समाज की शक्ति, उसकी रक्षा और उसकी उन्नति ही व्यक्ति की शक्ति, रक्षा और उन्नति है। समाज से भिन्न व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। यदि व्यक्तिवाद से प्रभावित कोई व्यक्ति स्वार्थ और लोभ को पूरा करने के लिए आज समाज का शोषण कर संपन्न बन जाता है, तो निश्चय ही कल उसकी यह कुसंपन्नता उसके लिए संकट का कारण बन जायेगी। समाज उसका असहयोग करेगा, दुष्ट लोग उसे सतायेंगे और तब वह एकाकी अपनी रक्षा न कर सकेगा। व्यक्ति की वास्तविक शक्ति समाज की शक्ति है, समाज के हित में ही उसका हित है इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति को पीछे रखकर जीवन के हर क्षेत्र में सामाजिक दृष्टि को ही आगे रखा जाए।



देश के लिए—समाज के लिए

हमारे देश के एक राजनीतिक प्रतिनिधि इंगलैंड गये हुए थे। उस समय वहाँ पेट्रोल पर कंट्रोल था। सरकारी कूपन से ही पेट्रोल मिल सकता था। उन्होंने सरकारी कार्यालय से कूपन प्राप्त कर लिए और एक टैक्सी किराये पर लेकर अपने काम पर निकले। कई दिनों तक वे अपने काम पर घूमते रहे। जब उन्हें स्वदेश रवाना होना था तो उनके पास बहुत से कूपन शेष रह गये। उन्होंने अपनी उदारता दिखाते हुए वे कूपन टैक्सी वाले को देते हुए कहा—“ये आजकल बड़ी कठिनाई से मिलते हैं। इन्हें रखो, काम आयेंगे।” यह सुनकर टैक्सी वाले की आँखें चढ़ गईं, गुस्से के साथ वह बोला—क्या आपने मुझे इतना नीच समझ रखा है, जो मैं चोरी के अनधिकृत कूपनों से लाभ उठाऊँ। जितना पेट्रोल मुझे नियमित रूप से मिलता है, मैं उससे तनिक भी अधिक नहीं ले सकता, यह तो अपनी सरकार के साथ, अपने देश के साथ धोखा है। क्या आपके यहाँ इसे बुरा नहीं समझा जाता ?

भारतीय राजपुरुष बड़े शर्मिंदा हुए, उन्होंने टैक्सी वाले से क्षमा माँगी। टैक्सी वाले ने आगे कहा—“मैं गत माह १० दिन बीमार रहा इसीलिए जब पहली तारीख को कूपन लेने गया, तो जितने कूपन मेरे पास बचे थे वे अपने कोटे में से कटवा दिए।”

घटना सामान्य-सी लगती है किंतु उसमें कितनी देशभक्ति, सामाजिक, नागरिक उत्तरदायित्व की भावना सन्तुष्टि है। शायद इसी प्रबल देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना के कारण ब्रिटेन ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में अपना बहुत गँवाकर भी अपने अस्तित्व को पूर्ववत् कायम रखा। अपने देश के गौरव को जीवित रखा।

राजनैतिक दृष्टि से हम स्वतंत्र हो गये लेकिन अभी तक राष्ट्रीय भावना, नागरिक जिम्मेदारियों के प्रति हम सचेत नहीं हो पाये हैं। यही कारण है कि कंट्रोल के समय हमारे यहाँ काला-बाजार जोरों पर चलता है। अनाज के भंडार भरे रहने पर कृत्रिम

महँगाई पैदा करके अत्यधिक मुनाफा हम लोग कमाते हैं। और तो और सार्वजनिक निर्माण कार्यों में लगने वाले सामान यथा—सीमेंट, लोहा, कोलतार, लकड़ी आदि बहुत-सा सामान चोर बाजारों में बेच दिया जाता है और हम लोग सस्ता पाकर उसे खरीद लेते हैं, फिर भारी मुनाफे के साथ उसे बेचते हैं। कई महत्वपूर्ण वस्तुएँ, दवा, मशीनें आदि जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त विदेशी मुद्रा खर्च करके प्राप्त की जाती हैं, हमारे यहाँ वे भी काले बाजार में पहुँच जाती हैं। ऐसी स्थिति में क्या हम एक स्वतंत्र देश के उत्तरदायी नागरिक कहला सकते हैं ?

सन् १९४८ की बात है कि हमारे देश के एक केंद्रीय मंत्री राष्ट्रमंडलीय सम्मेलन में भाग लेने इंगलैंड गये थे। सभी प्रतिनिधियों को एक दिन भारत की ओर से दूसरे दिन इंगलैंड की ओर से दावत दी गई। इनमें एक ही कंपनी की एक ही किस्म की सिगरेटें काम में लाई गई थीं, लेकिन दोनों दिन उनके स्वाद में बड़ा अंतर था। बाहरी फर्क सिर्फ इतना था कि एक दिन काम में लाये गये पैकेट भारत से खरीदे थे, जो अच्छे थे—दूसरे पैकेट में इंगलैंड से ही खरीद कर आये थे। कंपनी एक ही थी, उसकी शाखा भारत में भी थी। पूछने पर ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने बताया—‘महायुद्ध के कारण हमारे तंबाकू के खेत बहुत नष्ट हो गये। हमारे पास थोड़ी-सी तंबाकू रही है। उसमें से अच्छी किस्म को अलग से निकाल कर विदेशों में जाने वाली सिगरेटों के काम में लाते हैं, ताकि बाहर हमारी साख नष्ट न हो। घटिया किस्म के तंबाकू हम अपने ही देश में उपयोग करते हैं। इसीलिए आपको यह फर्क मालूम पड़ता है।

कैसी उद्दात्त भावना है, अपने देश के नाम व उसकी साख रक्षा के लिए। यही कारण है कि आज भी इंगलैंड संसार के बाजार में बहुत कुछ छाया हुआ है। वहाँ की बनी चीजें प्रामाणिक और मजबूत समझी जाती हैं। एक हमारे देश का उद्योगपति है, जिसका उद्देश्य घटिया वस्तु तैयार करके अधिक मुनाफा कमाना अपना

अधिकार और धर्म समझता है। कुछ समय पहले की बात है रूस ने करोड़ों रुपये के जूते इसलिए लौटा दिए, क्योंकि वे दिखाए गए नमूने से बहुत ही घटिया किस्म के थे। जब भी हम बाजार में जाते हैं, तो कई वस्तु की मजबूती-असलियत के बारे में विश्वास ही नहीं होता। कैसी विडंबना है ?

जहाँ एक ओर हमारे कंधे पर अपनी स्वतंत्रता का भार है, अपने देश की आन और साख का उत्तरदायित्व है, वहाँ हमारी निम्न उत्पादन नीति, मिलावट, नकली सामान तैयार करना क्या एक बहुत बड़ा अपराध नहीं है ?

इतना ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर देश के लिए अपनी आवश्यकताओं को सीमित बनाना पड़ता है, थोड़े में गुजारा करना पड़ता है, कई वस्तुएँ जिनके बिना हमारे जीवन क्रम में कोई विशेष बाधा न पड़े, उनका त्याग भी करना पड़ता है। रूस में क्रांति हुई। देश प्राचीन सामंतवादी शासन से मुक्त हुआ। जन-प्रतिनिधि के रूप में लेनिन ने देश की बागडोर अपने हाथों सम्हाली। उसके सामने देश का नव-निर्माण और औद्योगिक विकास का बहुत बड़ा काम था, जो मशीनों, वैज्ञानिक उपकरणों से ही संभव था, यह सब इंगलैंड और अमेरिका के बाजारों में थे। इसके लिए रूस के पास विदेशी मुद्रा की कमी थी। अब रूस के सामने एक ही रास्ता था—जंगली जानवर, लकड़ी, खाल, मांस, पनीर आदि पश्चिमी बाजारों में बेचकर विदेशी मुद्रा अर्जित की जाए और उससे मशीनें, उपकरण आदि मँगाये जाएँ। लगभग दस वर्ष तक रूसी जनता को तुला हुआ भोजन और मोटे कपड़े पर गुजारा करना पड़ा। बिना डॉक्टर के सर्टिफिकेट के किसी को पावभर दूध भी नहीं मिलता था। यहाँ तक कि बीमार प्रिंस क्रोपाटकिन को भी दूध नहीं मिला था। निस्संदेह एक स्वतंत्र देश के नागरिक का यह कर्तव्य है कि अपने आराम के लिए, वह समाज की शक्ति को दुर्बल न करे। वरन् उसे परिपुष्ट करने के लिए अपनी बहुत-सी आवश्यकताओं का स्वेच्छा से त्याग करने के लिए भी उद्यत रहे। आजकल हमारे

देश में कुछेक खाद्य पदार्थों का संकट चल रहा है और एक हम हैं कि इस पर भी बड़ी-बड़ी दावतें, प्रीतिभोज, शादी, विवाह पर खूब खर्च करते हैं।

जीवन निर्वाह की सामान्य आवश्यकताओं के अतिरिक्त भोग विलास, मौज-भजे, आराम-सुख चैन की जिंदगी बिताने के नाम पर हमारे यहाँ कितना अपव्यय होता है, संपत्ति, पदार्थों आदि का कितना नाश होता है ? लेकिन हम नहीं जानते कि व्यर्थ ही नष्ट किये जाने वाले पदार्थों को, बड़े भारी अपव्यय को रोककर यदि उसे हम राष्ट्र निर्माण की दिशा में लगायें, तो कोई संदेह नहीं कि कुछ ही समय में हमारा देश संसार में समृद्ध देशों की पंक्ति में खड़ा हो सकने योग्य बन जाए। भारत अपने आप में कोई गरीब नहीं है, पहले भी इसे सोने की चिड़िया कहा जाता था और आज भी संपदाओं की कोई कमी नहीं है हमारे यहाँ। यदि उत्पादन की उपयुक्त व्यवस्था, खर्च करने का सही ढंग और वस्तुओं का सदुपयोग भली प्रकार हो, तो हमारे अभाव सब नष्ट हो जाएँ। किसी भी कारण हमारे देश के विकास क्रम में गतिरोध पैदा नहीं हो सकता।

एक स्वतंत्र देश के नागरिक की हैसियत से हमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जिससे देश कमजोर हो, हमारे समाज की क्षमता नष्ट हो, चोर बाजारी, अधिक मुनाफाखोरी, घटिया उत्पादन, फिजूलखर्ची, वस्तु-पदार्थों का दुरुपयोग ये सभी हमारे लिए कलंक की बात है। इनसे देश की सामर्थ्य कमजोर होती है। ये हमारे गौरव और सम्मान के लिए विष हैं। इन्हें तो हमें छोड़ना-ही-छोड़ना है, आवश्यकता पड़ने पर अपना सब कुछ भी देश की, समाज की बलिवेदी पर अर्पण करने में नहीं चूकना चाहिए। यही देशभक्ति का सबसे बड़ा तकाजा है।



मानव-जाति की समस्याएँ इस तरह सुलझेंगी

जिधर भी दृष्टि पसारकर देखा जाए, उधर आज अभाव, असंतोष, चिंता, क्लेश एवं कलह का ही बाहुल्य दिखाई पड़ता है। यों वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ अगणित प्रकार के सुविधा-साधन बढ़ गये हैं, पर उनसे न व्यक्ति की शांति बढ़ी और न समाज की प्रगति हुई। विज्ञान की उपलब्धियों पर विचार करें, तो प्रतीत होता है कि आज से हजार वर्ष पहले के मनुष्य की अपेक्षा अबकी सुविधा-सामग्री इतनी अधिक है कि मनुष्य लोक एवं देवलोक के बारे में कल्पित की जा सकती है। पूर्व काल में रेल, मोटर, डाक-तार, बिजली, प्रेस, रेडियो, मशीनें, कल-कारखाने, जहाज आदि कहाँ थे ? साबुन, माचिस से लेकर फाउंटेन पेन, साइकिल तक दैनिक जीवन में अनेकों चीजें विज्ञान की देन हैं। चिकित्सा एवं शिक्षा के साधन बढ़ गये हैं। इस उत्पादन के साथ-साथ मनुष्य की सुविधा एवं प्रसन्नता बढ़नी चाहिए थी। आर्थिक विकास भी इन हजार-पाँच सौ वर्षों के भीतर आश्चर्यजनक हुआ है। इसका लाभ मिलने से मानसिक सुख-समृद्धि में बढ़ोतारी होनी चाहिए थी, पर दीखता है कि उलटी और कमी हुई है। लोग अपने आपको अधिक अभावग्रस्त, रुग्ण, चिंतित, एकाकी, असहाय एवं समस्याओं से घिरा हुआ अनुभव करते हैं। भौतिक प्रगति को देखते हुए लगता है कि पिछले हजार वर्षों में हम बहुत अधिक साधन-संपत्ति हो गए, पर बारीकी से विचार करने पर प्रतीत होता है कि इस अवधि में हम कहीं अधिक पिछड़े, गिरे एवं बिगड़े हैं। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन, पारिवारिक सौजन्य, सामाजिक सद्भाव, आर्थिक संतोष एवं आंतरिक उल्लास के सभी क्षेत्रों में भारी अवसाद एवं गतिरोध उत्पन्न हुआ है। इस दृष्टि से आज की सुविधा-संपत्ता और पूर्व काल की असुविधा-भरी परिस्थितियों की तुलना की जाए, तो भी लगता है कि वे असुविधा भरे समय के निवासी आज के हम

लोगों की तुलना में असर्ख्य गुने सुखी एवं संतुष्ट थे। तबकी और अबकी परिस्थितियों में उतना ही अंतर आ गया है, जितना कि स्वर्ग और नरक में माना जाता है। वस्तुतः आज हमें नारकीय परिस्थितियों में ही रहना पड़ रहा है।

यह नरक कहीं अन्यत्र से उत्पन्न नहीं हुआ, हमारे आंतरिक स्तर की विकृति ने ही इसे पैदा किया है। निश्चित रूप से हमारी भली-बुरी परिस्थितियों के उत्तरदायी हम स्वयं ही हैं। उनका दोषारोपण किसी दूसरे पर करके झूठा मन-संतोष कर लेना निरर्थक है। स्वर्ग और नरक कोई स्थान विशेष नहीं, केवल मनुष्य के उत्कृष्ट और निकृष्ट दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया मात्र है। आज व्यक्ति और समाज पर दुःख-दारिद्र्य की काली घटाएँ धुमड़ रही हैं, उसका कारण भावना-स्तर में अवांछनीय विकृतियों का आ जाना ही है। इसका समाधान-निराकरण यदि अभीष्ट हो, तो अमुक समस्या के अमुक सामयिक समाधान से काम न चलेगा, वरन् सुधार वहीं करना होगा, जहाँ से कि यह विभीषिकाएँ उत्पन्न होती हैं। इसी भावनात्मक सुधार, परिवर्तन एवं उन्नयन के सुव्यवस्थित आयोजन का नाम ही युग-निर्माण आंदोलन है। अखंड-ज्योति परिवार इसी महान् अभियान की श्रेय साधना में संलग्न होकर एक ऐतिहासिक भूमिका संपादित कर रहा है।

लोगों के स्वास्थ्य बेतरह गिरते चले जा रहे हैं, रुग्णता और दुर्बलता ने हर शरीर में अपना अड्डा जमा लिया है। चारपाई पर पड़े कराहते रहने की स्थिति भले ही न आ पाई हो, पर किसी प्रकार की रुग्णता ने घेर जरूर रखा होगा। स्वस्थ व्यक्ति में जितनी कार्यक्षमता होनी चाहिए, उतनी आज कितने व्यक्तियों में है ? टूटे-फूटे स्वास्थ्य को लेकर किसी तरह जिंदगी के दिन पूरे हो रहे हैं।

इस स्थिति का कारण बहुमूल्य पौष्टिक भोजनों का न मिलना नहीं है। भील और वनवासी किसान और मजदूर जिन्हें बहुत घटिया किस्म का भोजन मिलता है, अपेक्षाकृत अधिक निरोग

दीखते हैं। यदि आहार की पौष्टिकता ही आरोग्य का आधार रही होती, तो संपन्न लोगों में हर एक बलिष्ठ और निर्धनों में से हर एक रुग्ण-अस्वस्थ दिखाई पड़ता। आरोग्य संकट का एकमात्र कारण है—हमारा आहार-विहार संबंधी भ्रष्टाचार। असंयमी और उच्छृंखल रीति-नीति अपनाकर हम प्रकृति से जितने ही दूर हटे हैं, उतने ही अस्वस्थ होते चले गए हैं। यह भूल दवा-दारु की लीपा-पोती से नहीं सुधर सकती। खोया स्वास्थ्य पुनः पाना हो तो हमें प्रकृति की शरण में लौटना पड़ेगा। आहार-विहार संबंधी संयम अपनाना होगा, यह कार्य दृष्टिकोण के परिवर्तन से ही संभव है। खोये हुए आरोग्य को यदि मानव-जाति पुनः प्राप्त करना चाहे, तो इसे दृष्टिकोण का वह परिष्कार ही स्वीकार करना होगा, जिसके लिए युग-निर्माण आंदोलन की प्रेरणा है।

मानसिक अस्वस्थता आँखों से दिखाई नहीं पड़ती, इसलिए लोग उसके संबंध में प्रायः बेखबर रहते हैं। पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए, तो शरीर से भी कहीं अधिक रुग्ण एवं दुर्बल मन पाये जायेंगे। अनिद्रा, सिर दर्द, स्मरण शक्ति की कमी, मूढ़ता, उन्नाद जैसे मस्तिष्कीय रोगों की बाढ़ तो आ ही रही है। चिंता, भय, निराशा, आवेश, अधीरता, हड्डबड़ी, सनक, शक्कीपन, अव्यवस्था, निरुत्साह जैसे मनोविकार अधिकतर लोगों को अपना शिकार बनाये हुए अनेक व्यक्तिगत जीवनों को पतनोन्मुख बनाये हुए हैं।

भावनात्मक अस्वस्थता के कारण अधिकांश लोग प्रफुल्लता, उल्लास, साहस, पुरुषार्थ, उदारता, वीरता, सहदयता, सज्जनता जैसे मानवोचित गुणों से वंचित हो रहे हैं। फलस्वरूप मनुष्य के शरीर में रहते हुए भी उनकी जीवात्मा पाश्विक स्तर का जीवनयापन कर रही है। ईश्वर प्रदत्त महान् महत्त्वाओं से वह तनिक भी लाभ नहीं उठा पाता है और कीट-पतंगों जैसा आहार-निद्रा प्रधान हेय जीवन जी कर इस संसार से विदा हो जाता है। जिन लोगों के साथ उसका संपर्क रहता है, वे कुद्रते, पछताते और असंतोष ही प्रकट करते रहते हैं। न उसे किसी से संतोष और न

उससे किसी को संतोष। ऐसे निरर्थक एवं निंदनीय जीवन स्तर बने रहने के कारण भावनात्मक अस्वस्थता ही है। काश, मनुष्य की भावनाएँ उदात्त एवं उत्कृष्ट रही होती, तो सामान्य परिस्थितियों और सामान्य साधनों के रहते हुए भी उसने महापुरुषों जैसा, नर-रत्नों जैसा, प्रकाश एवं आनंद-भरा जीवन जिया होता।

यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि अमुक सुविधा या परिस्थिति का होना न होना मानसिक अस्त-व्यस्तता का कारण नहीं है। सही बात यह है कि मानसिक अस्त-व्यस्तता ही जीवन में अभाव एवं विपन्नता की परिस्थिति उत्पन्न करती है। प्रायः प्रत्येक महापुरुष विपन्न परिस्थितियों में जन्मा अथवा रहा है, उसने अपने मनोबल से ही अनुकूलता उत्पन्न की और साधन जुटाये। इस प्रकार का मनोबल प्राप्त करने के लिए हमें सारा ध्यान अपनी मनोभूमि के निरीक्षण, संशोधन, सुधार एवं विकास में लगाना होगा। यह प्रयोजन जितना-जितना पूरा होता चलेगा, हम आंतरिक दृष्टि से उतने ही सशक्त-समर्थ होते चले जायेंगे। तब मानसिक अस्वस्थता का इतना अधिक लाभ एवं आनंद उपलब्ध होगा, जिसके आधार पर यह जीवन और यह संसार स्वर्ग जैसा मंगलमय एवं उल्लासपूर्ण अनुभव होने लगे। युग-निर्माण योजना इसी प्रकार की स्वस्थ मनप्रक्रिया में संलग्न होने की जन-साधारण को प्रेरणा दे रही है।

सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में जो विकृतियाँ, विपन्नताएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे कहीं आकाश से नहीं टपकी हैं, वरन् हमारे अग्रणी, बुद्धिजीवी एवं प्रतिभासंपन्न लोगों की भावनात्मक दुष्टता ने उन्हें उत्पन्न किया है, जन-मानस में छाये हुए अविवेक एवं अवसाद के कारण ही वे दुष्प्रवृत्तियाँ पनप और फल-फूल रही हैं। यदि मान्यताओं और विचारणाओं की दिशा बदल जाए, तो संसार में फैली हुई अशांति के अगणित स्वरूप देखते-देखते समाप्त हो जायें।

हमारी हिंदू जाति में विवाह-शादियों के नाम पर होने वाला देन-दहेज एवं अपव्यय उसकी आर्थिक और नैतिक नीति को बुरी तरह खोखली कर रहा है। केवल दृष्टिकोण का परिष्कार एवं मनोबल की कमी ही वह कारण है, जिससे इस सत्यानाशी बुराई की हानियाँ जानते हुए भी उससे पिंड नहीं छुड़ाया जा रहा है। जाति-पाँति के नाम पर—अमुक वंश में पैदा होने के कारण—एक मनुष्य दूसरे से ऊँचा या नीचा समझ जाए, यह मान्यता कितनी अविवेकपूर्ण और अन्याय-मूलक है, इसे कोई भी विचारशील सहदय व्यक्ति सहज ही स्वीकार कर लेगा, फिर भी हमारे समाज में यह मूढ़ता अपनी गहरी जड़ें जमाये बैठी है।

स्त्रियाँ भी पुरुष की तरह मनुष्य हैं। मूँछ न होने या अन्य एक-दो अंगों में थोड़ा प्रकृति प्रदत्त हेर-फेर होने के कारण उनके मानवीय स्तर एवं अधिकार में कोई अंतर नहीं आता। फिर भी एक अविवेक सामाजिक मान्यता बनकर हमारे मतों में छा गया है और स्त्री जाति को पिंजड़े में बंद पक्षी या रस्सी से बँधे हुए पशु की तरह घरों में कैद रखा जा रहा है। उसे शिक्षा, स्वावलंबन आदि सामान्य मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया है। दृष्टि-दृष्टण के कारण आज हमारा आधा समाज अर्धांग पक्षाधात से पीड़ित मरीज की तरह अपनी आधी शक्ति को निरुपयोगी बनाये हुए है। उसकी आधी सामर्थ्य बिल्कुल बरबाद जा रही है,, जबकि संसार की अन्य सभी जातियाँ अपनी जनसंख्या का पूरा-पूरा लाभ ले रही हैं और प्रगति पथ पर अग्रसर हो रही हैं, तब हमें अपने आधे समाज का भार निर्जीव लाश की तरह ढोना पड़ रहा है। यह मोटे तथ्य हैं। उस पर थोड़ा-सा जोर देने से वस्तुस्थिति को हर कोई समझ सकता है। इतने पर भी दृष्टि दोष की बीमारी हमें वह सोचने-करने नहीं दे रही है, जिससे हम सशक्त समाज के रूप में विकसित हो सकें। इस दृष्टि दोष को सुधारे बिना हमारा सामाजिक कल्याण हो नहीं सकेगा। हम इस गई गुजरी स्थिति से ऊँचे उठ न सकेंगे।

धर्म के नाम पर लगभग ८० लाख व्यक्ति आलस्य और प्रमाद का जीवन जी रहे हैं। मंदिर, मठ, तीर्थ एवं दान-पुण्य के नाम पर समय और धन का जितना व्यय होता है, यदि उसका ठीक तरह उपयोग होने लगे, तो हमारी सामाजिक, नैतिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्थिति इतनी गतिशील हो जाए कि प्राचीन काल का गौरव पुनः प्राप्त करने में कुछ भी कठिनाई शेष न रह जाए। हमारे धार्मिक नेता अलग-अलग संप्रदाय चलाकर अपना-अपना अलग पूजा-प्रतिष्ठा का गोरखधंधा छोड़ दें और एक ही मंच से सारे हिंदू समाज को संगठित एवं समर्थ बनाने में लग जायें, तो इसका इतना बड़ा परिणाम सामने आये, जिसे देख कर संसार आश्चर्यचकित रह जाएँ।

हमारे राजनेता ही अपना व्यक्तिगत वर्चस्व बनाये रखने के लिए भाषावाद, प्रांतवाद, जातिवाद की अलगाव प्रवृत्ति को बढ़ा रहे हैं। फूट और विघटन के बीज बो रहे हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में संलग्न रहकर राजनेता ही सरकारी मशीनरी और जनता को अपने अनुकरण के लिए प्रोत्साहन देकर देश में विविध-विध भ्रष्टाचार का सृजन कर रहे हैं। यदि इनका दृष्टिकोण सुधर जाए और वे अशोक, राम, युधिष्ठिर, जनक, अश्वघोष, चाणक्य जैसे निस्पृह राजनेताओं का उदाहरण प्रस्तुत करने लगें, तो राजनैतिक स्थिति का स्वरूप ही बदल जाए। गांधी, पटेल, सुभाष, नेहरू, मालवीय, लाजपत राय, तिलक जैसे राजनेता स्वाधीनता का वरदान दिला गये, उसी प्रकार के उच्च भावनासंपन्न नेतृत्व यदि आज भी हमारे पास रहे होते तो राम-राज्य के वे सपने मूर्त्तरूप धारण कर रहे होते, जिन्हें गांधी जी ने कोमल कल्पनाओं के साथ संजोया था। राजनैतिक गुथियाँ आज उठ खड़ी हुई हैं। वह छुटपुट आयोगों, उपायों एवं समझौतों से कहीं सुलझेंगी ? अग्रणी नेतृत्व को सद्भावनासंपन्न बनाना ही एकमात्र उपाय है, जिससे देश की वास्तविक एवं सुस्थिर प्रगति संभव हो सकती है।

यही बात अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू होती है विश्व-नेता विश्व-संघ बनाकर सारी दुनिया को एक राज्य परिवार बना लें। देश-देश के बीच होने वाले आक्रमणों एवं संघर्षों की संभावना समाप्त कर दें। विश्व न्यायालय, विश्व-सेना बना लें। संपत्ति, भूमि और ज्ञान का उचित वितरण कर दें, तो अकाल, भुखमरी, बीमारी, अशिक्षा जैसे कष्टों का संसार से अंत हो जाए। जितनी जनसंख्या सेना में भर्ती है, अस्त्र-शस्त्र तथा सेना-सामग्री बनाने में जितना धन खर्च होता है, वह सब मानव-कल्याण के कामों में लगने लगे, तो समस्त संसार ने स्वर्गीय सुख-शांति की स्थापना में देर न लगे। यह कार्य युद्धों में एक-दूसरे को जीतने से नहीं, वरन् सार्वभौम विचार करने की शैली बदलने से संभव होगा। इन दिनों परमाणु अस्त्रों से तीसरे महायुद्ध की तैयारी हो रही है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की महत्वाकांक्षाएँ इसी दिशा में संलग्न हैं। तीसरा सर्वनाशी महायुद्ध अपु आयुधों से हुआ, तो वैज्ञानिक आइंस्टीन की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य होकर रहेगी कि—“चौथा युद्ध पत्थरों से लड़ा जायेगा।” तब चिर संचित मानवीय सम्भता का एक प्रकार से लोप हो जाएगा और मनुष्य को अपना विकास आदिम युग की जंगली अवस्था से फिर आरंभ करना होगा।

इन तथ्यों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से किसी भी विचारशील को एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि मनुष्य की व्यक्तिगत एवं सामूहिक समस्त समस्याओं, कठिनाइयों, उलझनों, विपत्तियों का एकमात्र कारण उसका दृष्टिकोण, भावना स्तर का विकृत हो जाना ही है। इसे सुधारे बिना अन्य समस्त छुट-पुट उपचार आयोजन कुछ क्षणिक प्रयोजन भले ही पूरा करें, वास्तविक एवं चिर समाधान उपरिथित नहीं कर सकते। आज या कल जब कभी भी वास्तविक, चिरस्थायी और सुदृढ़ विश्व-शांति की आवश्यकता अनुभव की जायेगी और उसके लिए दूरदर्शितापूर्ण हल खोजा जायेगा, तो वह हल एक ही होगा—“मानवप्राणी की विचार पद्धति में उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता के अनुरूप परिवर्तन प्रस्तुत करना।”

हमें इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए पूर्व भूमिका का संपादन करना है। सद्भावना, उत्कृष्ट विचारणा, विवेकशीलता एवं सत्यनिष्ठा के लिए जन-मानस में उत्कंठा तथा श्रद्धा का सृजन करना होगा। यह आकांक्षा जितनी ही तीव्र होती जायेगी, उज्ज्वल भविष्य की संभावना उतनी ही निकट आती चली जायेगी।

हम दुनिया को बदलने की सोचते रहते हैं, चाहते हैं कि संसार में से बुराई घटे और अच्छाई फैले। इस कार्य की पूर्ति के लिए आमतौर से सभा-सम्मेलन करने की, प्रवचन व्याख्यान करने की, लेख लिखने और अखबार छापने की बात सोची जाती है, कुछ प्रचारात्मक, प्रदर्शनात्मक कार्यक्रम भी बनते हैं, प्रतियोगिताएँ, जुलूस, प्रदर्शनी आदि के आयोजन होते हैं और बात इतने तक ही समाप्त हो जाती है। यह कार्यक्रम बहुत दिन से चलते आ रहे हैं, इनका थोड़ा-सा असर भी होता है, पर चिर प्रयत्नों के बावजूद वह लक्ष्य अभी भी बहुत दूर दिखाई पड़ता है, जिसके लिए यह सब किया गया होता है। कारण एक ही है कि लोगों की पैनी दृष्टि इन सुधारात्मक काम करने वालों के व्यक्तिगत जीवन पर जा टिकती है। वे यह जानना चाहते हैं कि यदि यह प्रचार वस्तुतः अच्छा और सच्चा है, तो उसके संयोजकों ने, प्रचारकों ने अपने जीवन में उतारा ही होगा। लाभदायक उत्तम बात का लाभ कोई स्वयं ही अपनाने के लाभ से वंचित क्यों रहेगा ? जनता की यह कसौटी सर्वथा उचित भी है। धर्म और सत्य के मार्ग पर चलना कष्टसाध्य है, उसमें लाभ तो है, पर तुरंत नहीं विलंब से वह मिलता है। इसके विपरीत अनैतिक कार्यों का अंतिम परिणाम सुखद भले ही न हो तुरंत तो लाभ रहता ही है। इस तुरंत के लाभ को छोड़कर, तुरंत कष्टसाध्य प्रक्रिया में पड़ने के लिए लोग तभी तैयार हो सकते हैं, जब उन्हें यह विश्वास हो जाए कि धर्म-प्रचारक लोग उन्हें बहका तो नहीं रहे हैं। यदि उन्हें संदेह हो गया कि धर्मप्रचार का आड़बर सस्ती वाहवाही लूटने और किसी स्वार्थ साधन के लिए किया जा रहा है, तो लोग धर्म-कर्म की बातों को सुन तो लेते हैं, पर उन्हें

अपनाने के लिए तैयार नहीं होते। प्रचार की बड़ी-बड़ी स्कीमें इसी चट्टान से टकराकर टूट जाती है। आज अगणित सुधारवादी संस्थान प्रचुर जन-शक्ति और धन-शक्ति लगाकर मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनाने का आंदोलन कर रहे हैं वह सब निष्फल ही जा रहा है, स्थिति बदतर होती चली जा रही है।

बुराइयाँ दिन-दिन बढ़ती जा रही हैं, इसका कारण एक ही है कि बुरे लोग अपने व्यवहारिक जीवन में उन बुराइयों को धारण करके लोगों पर प्रभाव डालते हैं कि इन कार्यों पर उनकी पूरी और पक्की निष्ठा है। निष्ठा की दृढ़ता ही दूसरों को प्रभावित करती है। बुराइयों के प्रचार की, विस्तार की, शिक्षण की, आंदोलन की कोई योजना कहीं से भी प्रसारित नहीं हो रही है, न उनके संवर्धन के लिए कोई संस्था-संगठन कहीं काम करता है फिर भी पाप-प्रचार का इतनी तीव्रता से बढ़ने का कारण जहाँ मनुष्य की पतनोन्मुख स्वतः प्रवृत्ति है, वहाँ आसपास के सारे वातावरण में लोगों को वही सब करते हुए देखने का प्रभाव भी एक बड़ा महत्वपूर्ण कारण है। अच्छाई को बढ़ाने के लिए दुहरा प्रयत्न आवश्यक है—एक तो मन की पतनोन्मुख पशु-प्रवृत्ति को उत्कर्ष की ओर अभिमुख करने के लिए स्वाध्याय और सत्संग की व्यवस्था रहनी चाहिए, दूसरी ओर ऐसे अनुकरणीय भी सामने रहने चाहिए, जिन्हें देखकर लोग प्रकाश ग्रहण करें और उनके पद-चिह्नों पर चलते हुए अपना लक्ष्य एवं कार्यक्रम निर्धारित करें।

आत्मकल्याण का लक्ष्य पूरा करने के लिए हमें आत्मनिर्माण का कार्यक्रम बनाना होगा, इसके लिए भजन आवश्यक है। उपासना को पहला स्थान देना होगा, पर केवल उसी तक सीमित हो जाने से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। (१) साधना (२) स्वाध्याय (३) संयम (४) सेवा, यह चार कार्य मिलने से एक सर्वतोमुखी, सर्वांगपूर्ण अध्यात्मवाद बनता है। जिस प्रकार दोनों हाथ और दोनों पैर ठीक होने से हमारी शारीरिक क्षमता ठीक काम करती है, उसी प्रकार इन चारों साधनों की समस्वरता से ही कोई व्यक्ति स्वस्थ अध्यात्मवादी बन सकता है।

जिस व्यक्ति के दो हाथ और दो पैर के चार अंगों में से यदि एक या दो ही अवयव काम दें, शेष अपंग या नष्ट हो जाएँ, तो वह अपने जीवन को सक्षम कैसे बनाये रख सकेगा ? जिनका अध्यात्मवाद केवल थोड़े-से भजन तक सीमित हो गया है, स्वाध्याय, संयम और सेवा के लिए जिनके जीवन में कोई स्थान नहीं के वैसे ही अपंग हैं जैसे केवल एक हाथ या केवल एक पैर वाला व्यक्ति होता है।

हमें यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि भजन से जीवन की सारी प्रक्रिया को अध्यात्मवाद के अनुरूप ढाल लेने की प्रेरणा प्राप्त नहीं हो रही, तो समझना चाहिए कि भजन में कहीं भूल है। मिर्च खाते ही जीभ में तीखापन लगता है, आग को छूते ही गर्मी अनुभव होती है, नशा पीते ही खुमारी आती है, फिर भजन यदि सच्चा है, तो उसकी प्रेरणा जीवन को आदर्शवादी बनाने के लिए क्यों सामने उपस्थित न होगी ? भजन वह है जो तुरंत उच्च कोटि की विचारधारा में रमण करने की छटपटाहट अनुभव कराता है। स्वाध्याय और सत्संग की भूख जिसे जगी नहीं तो समझना चाहिए कि इसे अभी सच्चा भजन करने का अवसर नहीं मिला। इसी प्रकार जो स्वाध्याय करने लगा, उसे अपनी वासनाओं और तृष्णाओं पर संयम करने की लगन लगेगी ही। वह अपने जीवन को अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित, अनुपयुक्त रीति से व्यतीत नहीं कर सकता। शरीर की आवश्यकताएँ पूरी करने की तरह उसे आत्मा की आवश्यकताएँ पूर्ण करने का महत्त्व समझ पड़ेगा और वह अपना सर्वस्व लौकिक लाभों के लिए ही उत्सर्ग न कर देगा, वरन् पारलौकिक हित साधन के लिए अपनी शक्ति का एक अच्छा भाग लगाना आरंभ करेगा। जिसकी बुद्धि शरीर को ही सब कुछ नहीं मान बैठी है, जिसने आत्मा के अस्तित्व और उसके हित को भी समझना आरंभ कर दिया है, वह स्वार्थ साधन में ही कैसे लगा रहेगा ? सेवा के लिए उसके जीवन में कुछ भी स्थान न हो ऐसा कैसे बन पड़ेगा ?

भजन शब्द संस्कृत की 'भज' धातु से बनता है, जिसका अर्थ होता है—'सेवा'। जिसने भजन का मार्ग अपनाया उसके हर कदम पर

सेवा की प्रक्रिया सामने आयेगी। स्वाध्याय और संयम के परिणामस्वरूप अंतःकरण का जिस प्रकार परिपाक होना है, उसमें 'सेवा' अनिवार्य है। हर सच्चा अध्यात्मवादी सेवाभावी अवश्य होगा। जिसे सेवा में रुचि नहीं, वह भजनानंदी हो सकता है, अध्यात्मवादी नहीं। आज एकांगी संकुचित दृष्टि वाले, भजनानंदी बहुत हैं, पर सर्वांगपूर्ण अध्यात्मवादी बनने का प्रयत्न कोई विरले ही करते हैं। यह मार्ग कष्टसाध्य है। लोग सस्ते नुसखे ढूँढ़ने लगे हैं। उनको यह भ्रम हो गया है कि कुछ घंटा भजन-पूजन करने मात्र से भगवान् प्रसन्न होकर हमारा लोक-परलोक सँभाल देगा। यदि इतना ही सस्ता जीवन लक्ष्य रहा होता, तो प्राचीन काल में किसी ऋषि-मुनि ने, धर्मात्मा ने त्याग और तप का कष्टसाध्य मार्ग न अपनाया होता। वे हम से कम चतुर न थे। यदि सस्ते नुसखे जीवन मुक्ति की, आत्म-कल्याण की समस्या को हल करने में सफल रहे होते, तो कोई भी समझदार आदमी आध्यात्मिक आदर्शों का जीवन बनाने की कष्टसाध्य प्रक्रिया को अपनाने के लिए कदापि तैयार न हुआ होता।

आत्म-कल्याण का उद्देश्य केवल वे ही पूर्ण कर सकते हैं, जो अपने जीवन में अध्यात्मवाद की स्थापना करने के लिए, उसी ढाँचे में अपने को ढालने के लिए तैयार हैं। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग न प्राचीन काल में था, न अब है, न आगे होगा। सस्ते नुसखे अपनाकर, जो चुटकी बजाते मुक्ति मिलने, सद्गति होने एवं परमात्मा के मिलने की आशा लगाये बैठे हैं, उन्हें कल्पना जगत् से नीचे उत्तरकर वास्तविकता को सुनना-समझना पड़ेगा और सत्य एवं तथ्य को हृदयंगम करते हुए भजन को जीवन के कण-कण में औत-प्रोत कर लेने का प्रयत्न करना होगा। हम देर तक धर्म-विनोद के खेल-खेलते नहीं रह सकते। जीवन का अंत निकट आता जा रहा है, यदि कुछ वास्तविक आध्यात्मिक कार्य हमसे न बन पड़ा, तो फिर कुछ सत्परिणाम भी कहाँ से हाथ लगेगा ?

हम अपने जीवन को आध्यात्मिक आदर्शों के अनुकूल ढालने का प्रयत्न करें। हमारे विचारों और कार्यों में एक सुव्यवस्थित हेर-फेर

होना चाहिए, तभी तो अध्यात्म का सत्परिणाम सामने प्रस्तुत होगा। अपने को सुधारने और बनाने का कार्य हम जितनी तत्परता से करेंगे, उसी के अनुकूल निकटवर्ती वातावरण में सुधार एवं निर्माण का कार्य आरंभ हो जायेगा। प्रवचनों और लेखों की सीमित शक्ति से युग निर्माण का कार्य संपन्न हो सकना संभव नहीं यह तो तभी होगा, जब हम अपना निज का जीवन एक विशेष ढाँचे में ढालकर लोगों को दिखायेंगे। प्राचीन काल के सभी धर्मोपदेशकों ने यही किया था। उन्होंने अपने तप और त्याग का अनुपम आदर्श उपस्थित करके लाखों-करोड़ों अंतःकरणों को झकझोर डाला था और लोगों को अपने पीछे-पीछे अनेक कष्ट उठाते हुए भी चले आने के लिए तत्पर कर लिया था। बुद्ध, महावीर, दयानंद, गांधी, ईसा, सुकरात, अरस्तू आदि महापुरुषों के प्रवचन नहीं, उनके कार्य महत्त्वपूर्ण थे। जनता ने प्रकाश उनकी वाणी से नहीं, कृतियों से ग्रहण किया था।

अपने सुधार में सबका सुधार समाया है। संसार को बनाने का कार्य अपने को बनाने से आरंभ करना होगा। जमाना तब बदलेगा, जब हम स्वयं बदलेंगे। युग-निर्माण योजना का आरंभ दूसरों को उपदेश देने से नहीं, वरन् अपने मन को समझाने से शुरू होगा। यदि हमारा अपना मन, हमारी बात मानने को तैयार नहीं हो सकता, तो दूसरा कौन सुनेगा ? कौन मानेगा ! जीभ की नोंक से निकले हुए लङ्घेदार प्रवचन दूसरों के कानों को प्रिय लग सकते हैं, वे उसकी प्रशंसा भी कर सकते हैं, पर प्रभाव तो आत्मा का आत्मा पर पड़ता है, यदि हमारी आत्मा खोखली है, तो उसका कोई प्रभाव किसी पर न पड़ेगा। इसलिए आत्म-कल्याण की दृष्टि से भी और युग-निर्माण की दृष्टि से भी हमें एक ही कार्य करना है—आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण, आत्म-विकास। इस कार्यक्रम को पूर्ण करने में ही उन सेवा कार्यों का भी स्वतः समावेश हो जायेगा, जिनके द्वारा जमाने को पलट देना, युग को बदल डालना संभव है। इसी में स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय भी है।



आत्म-सुधार—विश्व-कल्याण का सबसे सरल मार्ग

बहुधा हम सब यह अभियोग करते रहते हैं कि संसार बहुत खराब हो गया है। जिसे देखो वह ऐसे ही कार्य करने में लगा हुआ है, जो संसार की दुःख-वृद्धि करते हैं, पर क्या कभी हम यह भी सोच पाते हैं कि संसार में दुःख और कष्ट बढ़ाने में हमारा भी कुछ हाथ है या नहीं ?

सच्ची बात यह है कि हमारी यह शिकायत ही इस बात का प्रमाण है कि हम स्वयं ही अपने में पूरी तरह से अच्छे नहीं हैं। यदि हमारी मनोभूमि स्वच्छ और उच्च स्तर की हो तो हमें संसार न तो बुरा ही दीख पड़े और न उससे प्रभावित होकर हम दुःखी हों।

जिस मनुष्य का स्वभाव जैसा होता है, उसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ ही उसे प्रभावित करती हैं और उसी प्रकार के तत्त्व वह ग्रहण करता है। किसी दूसरे के क्रोध का प्रभाव उसी पर होगा, जो स्वयं भी क्रोधी होगा। शातचित्त और संतुलित मस्तिष्क वाले मनस्वी व्यक्तियों पर उसका न तो कोई प्रभाव पड़ता है और न उन पर तदनुरूप प्रतिक्रिया होती है। जिसने अपने तामस पर विजय कर ली होती है, वह अपने प्रति दूसरे की बुराई देखकर भी शांत बना रहता है। दूसरे की क्रोधाग्नि को अपनी शीतल वाणी और मधुर व्यवहार से बुझाने का प्रयत्न किया करता है।

महात्मा गांधी ने क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली थी। उन्होंने अपनी मनोभूमि को आवेश रहित बना लिया था। उन पर अफ्रीका में बड़े-बड़े अत्याचार किये गये। उन्हें मारा-धकेला गया, उनके लिए गाली और अपशब्दों का प्रयोग किया गया। उन्हें रेल और जहाज पर से बलपूर्वक नीचे उतारकर अपमान किया गया, पर उन्होंने कभी क्रोध नहीं किया। यदि वे अपने आवेगों को वश में न कर

चुके होते, तो उन्हें भी क्रोध की अग्नि जलाती और तब उस पीड़ा से परेशान होकर वे भी संसार को बुरा कहकर दोष लगाते रहते। इसके विपरीत संसार को दूर, उन्होंने अपने ऊपर जुल्म करने वालों को भी कभी बुरा नहीं कहा, बल्कि वे उन विरोधियों की प्रशंसा ही करते रहे।

यह एक निर्विवाद सत्य है—जो जैसा होता है, संसार का स्वरूप उसे वैसा ही दिखाई देता है। यह संसार एक दर्पण के समान है। इसको जो देखता है, उसे अपना स्वरूप ही दिखाई देता है। सज्जन व्यक्ति को यही संसार सज्जन और दुर्जन व्यक्ति को दुर्जनों से भरा दीखता है। इसलिए शिकायत करने से पूर्व हमें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि हम पूरी तरह भले हैं या नहीं। निश्चय ही हमें बुराइयाँ हैं, तभी यह संसार हमें बुरा दीखता है। यदि हमारी मनोभूमि उसकी बुराइयाँ ग्रहण करने योग्य न हो, तो हमें यह संसार कदापि बुरा दिखलाई न पड़े।

संसार को बुरा-भला कहने और उसकी आलोचना करने में हम जितना समय और शक्ति खराब करते हैं, यदि वही समय और शक्ति अपना सुधार करने में लगाने लगें, तो संसार आप से आप ही अच्छा हो जाए। उदाहरण के लिए यदि लड्डाई-झगड़े की बात ले ली जाए और उस पर प्रयोग किया जाए, तो जल्दी ही हम यह जान लेंगे कि बुराई बाहर कम है बल्कि अपने अंदर ज्यादा है। एक आदमी हमारा कुछ अहित करता है और हम भी बदले में उसका अहित करने पर तुल जाते हैं, तो अहित की यह क्रिया-प्रतिक्रिया आगे बढ़ती जायेगी और एक दिन किसी बड़े संघर्ष की स्थिति खड़ी हो जायेगी और हम एक-दूसरे को मारने-मरने पर तुल जायेंगे। इसके विपरीत यदि हम अहित करने वाले का हित करके अपने उत्कृष्ट स्वभाव का परिचय देने का प्रयत्न करें, तो निश्चय ही विपक्षी की प्रवृत्ति बदल जायेगी और वह हमारा अहित आगे तो नहीं ही करेगा, किये अहित के लिए भी लज्जित होकर माफी माँगेगा। झगड़े में एक पक्ष शांत तथा विनम्र बना रहे, तो

दूसरे को भी शांत हो जाना पड़ेगा और सच्ची बात तो यह है कि जो मन-वचन-कर्म से किसी का अहित वाहक नहीं होता, किसी के प्रति द्वेष-दुर्भाव नहीं रखता, उससे न तो कोई झगड़ा करेगा और न उसका अहित चाहेगा। अपने भीतर की बुराई ही दूसरे को हमारे लिए बुरा बनाती है। वैसे किसी को क्या पड़ी है कि वह अकारण ही हमारे साथ बुराई करने पर उतर आयेगा।

जीवन की प्रगति और सुख-शांति के लिए आध्यात्मिक आदर्शों का प्रतिपादन संसार के सभी विद्वानों ने एक मत से किया है। आध्यात्मिक विचार वाले व्यक्तियों का जीवन सब प्रकार से सुख-शांतिपूर्ण रहता है। संसार में न तो उनका कोई शत्रु होता है और न विद्वेषी। उनके सामने कदाचित् ही ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि उन्हें किन्हीं लोगों की ओर से आशंका अथवा अहित की संभावना रहे। यदि कभी संयोगवश कोई अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों के कारण उनका बुरा चाहता या करता भी है, तो भी आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी उत्कृष्टता का प्रमाण देकर उसे यथास्थान ही रोक देता है। वह फिर आगे बुराई नहीं करने पाता। आध्यात्मिक व्यक्ति न तो किसी के प्रति द्वेष रखता है और न प्रतिशोध की भावना। इसी कारण उसके सम्मुख पीड़ादायक परिस्थितियाँ बहुत कम आती हैं।

किंतु यह होता तभी है, जब व्यक्ति अध्यात्म के आदर्शों के प्रति मन, वचन, कर्म से ईमानदार रहे। आध्यात्मिक जीवन में विश्वास रखने वाला व्यक्ति, सबसे पहले बुराइयों की खोज अपने अंदर किया करता है। यदि कभी कोई उसके साथ बुराई करता है, तो आध्यात्मिक व्यक्ति उसका दोष बुराई करने वाले को तो शायद ही देता है, वह उसका कारण अपने अंदर यह सोचता हुआ खोजता है कि जरूर ही हमारे अंदर कोई बुराई, कोई कर्मी अथवा कोई त्रुटि अवश्य है, हम अवश्य ही किसी दुर्बलता अथवा निर्बलता के बंदी हैं, तभी अमुक व्यक्ति का साहस अथवा प्रवृत्ति हमारे साथ ऐसा व्यवहार करने की हुई।

अपनी खोज के फलस्वरूप वह कारण खोज निकालता है और उसका निवारण करके निष्कंटक हो जाता है। मनुष्य के अंदर कौन-सी क्या दुर्बल प्रवृत्तियाँ छिपी हैं, वह बहुधा कम लोग ही जान पाते हैं। इसलिए हृदयमार्जन के लिए हम आपको निरंतर अपना निरीक्षण करते ही रहना चाहिए।

यदि हमें संसार के खराब होने की शिकायत है और हम यह चाहते हैं कि संसार का सुधार हो, उसकी गतिविधि ठीक हो, चारों ओर सुख-शांति के वातावरण का निर्माण हो, तो उसका उपाय यह है कि हम आज से ही अपना सुधार प्रारंभ कर दें। जितने अंशों में हम अपना सुधार करते जायेंगे, संसार उतने ही अंशों में आपसे आप सुधरता जायेगा। संसार का एक अंश हम भी हैं। अपना सुधार करने के प्रथम चरण में समाज या संसार और कुछ नहीं हम सब लोगों का ही समूह है। हम सब मिलकर संसार को बनाते हैं। हमारी अपनी अच्छाइयों से ही संसार अच्छा बनता है और हमारी बुराइयों ही उसे कुश बना देती हैं।

यदि वास्तव में हम संसार की विकृतियों से ऊब गये हैं, उसमें व्याप्त शोक-संतापों के कारणों के प्रति हममें अरुचि का भाव है और हम चाहते हैं कि संसार की यह रचना उसके रचयिता के अनुरूप ही सुखद और सुंदर बने, मनुष्यों के रहने योग्य इसका स्वरूप बने, तो हमें आत्म-सुधार में संसार सुधार का कार्य जल्दी से जल्दी प्रारंभ कर देना चाहिए।

दूसरों की अपेक्षा अपना सुधार अधिक सरल तथा अधिक सम्मत होता है। दूसरे को तो हम सुधार के लिए समझा ही सकते हैं, प्रार्थना कर सकते, अधिक से अधिक उपदेश दे सकते हैं, लेकिन अपने को हठपूर्वक भी सुधार सकते हैं। जहाँ दूसरों पर हमारा कोई वश नहीं होता, वे हमारी बात मारें ही, इसके लिए उन्हें विवश नहीं किया जा सकता, किंतु अपने पर तो हमें पूरा अधिकार हो सकता है। अपना सुधार करने के लिए हम सब अपने पर सख्ती भी कर सकते हैं और जिधर चाहें, बलपूर्वक मोड़ सकते हैं।

दूसरों के विषय में हमें न तो यह अधिकार होता है और न स्वतंत्रता। इसलिए संसार कल्याण का, सबसे सरल तथा संभव तरीका यही है कि दूसरों से पहले हमें अपना स्वयं का सुधार प्रारंभ कर देना चाहिए।

अपना सुधार करने से तो केवल हमारा ही सुधार हो सकता है, इससे इतने बड़े संसार का सुधार किस प्रकार संभव हो सकता है? ऐसी निराशापूर्ण शंका करना विचार-संकीर्णता है। कोई भी आदर्श अभ्यास सिद्धांत स्वर्वभौमिक होता है। जब हम अलग-अलग एक-एक करके सुधरने लगेंगे, तो सारा संसार ही एक साथ सुधरने लगेगा। संसार के सुधार का इतना बड़ा काम कुछ थोड़े-से सुधारकों के लिए संभव नहीं है, अपितु सबसे सरल तरीका यही है कि हम सुधारकों से प्रेरणा एवं प्रकाश लेकर अपना सुधार आप ही करें। इससे यह विशाल कार्य छोटे-छोटे भागों में वितरित होकर सरल हो जायेगा। थोड़ी-थोड़ी जिम्मेदारी सब पर चली जायेगी और एक तरह से सभी लोग संसार सुधार के काम में लग जायेंगे। विशाल कार्य विशाल जनसमूह द्वारा किये जाने पर जल्दी तथा पूर्ण रूप से संपादित हो जायेगा।

आत्म-शोधन में निरत होना संसार शोधन में लगने का एक प्रकार है। एक व्यक्ति अपनी अच्छाई से केवल अपने आप ही लाभान्वित नहीं होता, बल्कि अन्य लोगों की सुख-शांति बढ़ाने में भी सहायक होता है। जिस प्रकार एक बुरा आदमी अपनी बुराई का प्रभाव दूसरों तक पहुँचाता है और इस प्रकार उनके दुखों में वृद्धि करता है, उसी प्रकार एक उपयुक्त आदमी भी अपनी अच्छाई का प्रभाव दूसरों पर डालता है और वे उसके व्यवहार से लाभान्वित ही नहीं प्रेरित भी होते हैं। उनके शोक-संतापों की संख्या घटती और सुख-शांति की वृद्धि होती है। इसलिए विश्व-कल्याण का सबसे सरल और सही तरीका आत्म-कल्याण ही मनाना चाहिए।

आत्म-सुधार, आत्म-कल्याण की भावना को किसी प्रकार भी स्वार्थ मनाना भारी भूल होगी। अपने चरित्र को ऊपर उठाना अथवा आत्मा की उन्नति करना स्वार्थ नहीं माना जा सकता, वह विशुद्ध परमार्थ है और परमार्थ के कार्यों से न केवल अपना ही मंगल होता है, अपितु सारे संसार, सारे मनुष्यों और सारे जीव, प्राणी मात्र को लाभ मिलता है।

संसार का सुधार करने के लिए हमें जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण को विकसित और आध्यात्मिक गतिविधि को अपनाकर चलना चाहिए। प्रत्येक अच्छी-बुरी परिस्थिति के उत्तरदायी हम स्वयं अपने को मानें। बाह्य प्रवृत्तियों का कारण अपने अंदर खोजें और उनका निवारण करें; अपने गुण, कर्म, स्वभाव को उन्नत एवं उदात्त बनायें। तब हमें संसार से शिकायत न रहेगी और इस प्रकार सारा संसार ही सुधार की ओर चल पड़ेगा।



पहले हम मनुष्य बनें, पीछे कुछ और

एक संपन्न कुल में दो भाई थे। काफी बड़ी जागीर थी। दोनों की शिक्षा-दीक्षा भी खूब हुई थी। कुसंस्कार एवं बुरे वातावरण में पड़ जाने पर एक भाई को जुआ की लत पड़ गई। वैसे वह योग्य, पढ़ा-लिखा और विद्वान् था, साथ ही सत्यवादी भी और जुआरियों की तरह उसमें चालाकी, धोखादेही भी न थी, इसी कारण वह हार जाता। उसने अपने हिस्से की सारी संपत्ति जुआ में लुटा दी और फिर अभावग्रस्त जीवन बिताने लगा। इससे उसमें चोरी की लत पड़ गई। गर्ज यह है कि उसमें कई बुराइयाँ घर कर गईं और वह लोगों की निगाह में खटकने लगा। लोग उसके मुँह पर बुरा-भला कहते। दूसरा भाई लोगों की आँखों का तारा था। वह समाज की भलाई के कामों में हाथ बटाता, सदाचार का जीवन बिताकर जितनी दूसरों की भलाई हो सकती थी उतनी करता। लोग उसकी बड़ाई करते और उसे घेरे ही रहते। एक दिन पहले भाई का देहांत हो गया। लोग कहने लगे अच्छा हुआ मर गया तो और इसी प्रकार तरह-तरह की बातें करने लगे। कुछ समय बाद दूसरे का देहावसान हुआ, तो सारे नगर में शोक छा गया। स्त्री-पुरुष रोने लगे, उसके उपकारों एवं उसकी सज्जनता को याद करके, उसके नाम पर समाज में कई संस्थाएँ खोली गईं। समाचार-पत्रों में उसके नाम पर शोक प्रकट किया गया।

एक ही कुल, एक-सी परिस्थिति, एक ही वातावरण—फिर भी एक के नाम पर दुनिया थूकती थी और दूसरे की रात-दिन बड़ाई करती हुई श्रद्धा प्रकट करती थी, यह क्यों? इसका एक ही उत्तर है कि पहले ने अपने जीवन में मनुष्य धर्म को भूलकर पाप का आचरण किया, हैवानियत का रास्ता अपनाया। दूसरे ने इंसान के पुतले में जन्म लेकर इंसान बनने को कोशिश की।

राम को लोग पूजते हैं और रावण का पुतला जलाते हैं। रावण तो महान् विद्वान्, वैज्ञानिक, शक्तिशाली एवं स्वर्ण नगरी का मालिक

था, समस्त संसार पर उसका प्रभाव था, फिर भी लोग ऐसा क्यों करते हैं ? उत्तर स्पष्ट है। राम ने मनुष्यत्व की साधना की ओर रावण ने मनुष्य होकर भी मनुष्यत्व से गिरकर पाप का आचरण किया। लोगों को सताया, अहंकार को बढ़ाया, अपनी नीयत को खराब किया। राम ने घर-घर जाकर मानवता का रक्षण-पोषण और सेवा की।

प्रत्येक मनुष्य के लिए जीवन में दो पहलू हैं—एक भला—दूसरा बुरा। एक मनुष्य को मनुष्य बनाने की ओर अग्रसर करता है, दूसरा मनुष्य को मनुष्यत्व से गिराकर शैतान बनाता है। जो जिस मार्ग का अनुसरण करेगा, उसी के आधार पर उसके जीवन का मूल्यांकन होता है। संसार उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन कर उसी के अनुसार उसको प्रमाण पत्र देता है। इतना ही नहीं, हमें परमपिता परमात्मा द्वारा दी गई इस मनुष्य जीवन जैसी अमूल्य थाती का लेखा-जोखा उसे भी देना होगा कि इसका प्रयोग हमने कैसे किया ? कहाँ किया ? वेद में कहा है—

‘अग्ने न य सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।’ यजु० ५.३६; ७.४३; ४०.१६

हे अग्नि देव, हमें सरल पथ से ले जाओ, बुरे रास्ते से नहीं। केवल लक्ष्मी नहीं चाहिए, सुपंथ चाहिए। कुरान में कहा है—‘ए खुदा, हमें सीधी राह चाहिए। गलत राह से हम अपने मुकाम पर नहीं पहुँचे।’ ऐसा भान होगा कि हम जन्नत में पहुँचे हैं, लेकिन असल में तो हम जहन्नुम में ही जायेंगे। इसलिए हम सीधी राह, सुपंथ से चलकर ही आदर्श की ओर पहुँचे।

मनुष्य को मनुष्य बनना है। यही उसके जीवन की प्रमुख शर्त है और इसके लिए उसे भले मार्ग का अनुसरण करना होगा और बुरे का त्याग करना होगा। बुराई, जड़ता मनुष्य को मनुष्यत्व से नीचे गिराती है और भलाई, सहदयता, सौजन्य उसे मनुष्य बनाते हैं, यही उसके धर्म के प्रतीक हैं।

मनुष्य बनने के लिए हमारी चेतना ऊर्ध्वगामी हो। निम्नगामी न हो। यही एक तथ्य जीवन की कुंजी है। लोग रात-दिन हाय-हाय

कर रहे हैं। धन की, प्रतिष्ठा की, ऐश्वर्य—कीर्ति की, सत्ता हथियाने की, अपने को बड़ा सिद्ध करने की प्रवृत्ति ही निम्नगामी है और इनसे ऊपर उठकर त्याग, संतोष, संयम, सदाचारशील, क्षमा, सत्य मैत्री, परमार्थ आदि की जीवन में साधना करना ऊर्ध्वगामी चेतना के लक्षण हैं।

संपत्तिशाली, नेता, विद्वान्, लेखक, संपादक शासक, शक्ति-संपन्न, वैज्ञानिक होना अलग बात है और मनुष्य बनना दूसरी बात है। इन सबके स्मृथ यदि मनुष्यता का संबंध नहीं है, तो यह सब पत्थर पर मारे गये तीर की भाँति बेकार सिद्ध होंगी। यदि उक्त भौतिक संपत्तियाँ प्राप्त करके भी मनुष्यत्व नहीं है तो सब व्यर्थ है, केवल ब्रह्मरी बनावट मात्र है। जैसे—लाश को बाहर से अच्छी तरह सजाकर उसे जीवित सिद्ध करना, किंतु आखिर वह लाश ही रहेगी। चेतना उसे स्वीकार नहीं करेगी। धन का उत्पादन, कला की साधना, औद्योगिकरण, सत्ता प्राप्ति आदि का ध्येय मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए हो, उसके सद्गुणों के विकास के लिए हों, जो उसे शांतिकामी, सत्यवादी, उदार मैत्रीवान् बनाते हैं। उन्हें दुर्नीतिपरायण, असत्यवादी, कुमंत्रपदु, दुस्साहसी, लड़ाका, क्रूर बनाना मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है। मूल लक्ष्य मनुष्य को मनुष्य बनाने का है। बाहरी टीमटाम मनुष्यत्व से रहित है। हमें इस जड़ता से बचकर अंतर्मुख होना चाहिए, जहाँ मनुष्यत्व के अमृत की सहरों धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं, उनमें सराबोर होकर मनुष्य और जगत् धन्य हो जाता है, उसका जीवनोददेश्य पूर्ण हो जाता है।

मनुष्य जीवन में मनुष्य बनाने वाले प्रयोजनों का प्रमुख स्थान है, औरों का पीछे। आत्म-संयम, धैर्य, दया, सन्मार्ग गमन, सद्बुद्धि, सच्चे आदर्श एवं परमार्थ पथ का अवलंबन, सदाचारशील, संतोष आदि का अर्जन—इनकी शिक्षा सबसे अधिक आवश्यक है। इसकी शिक्षा से ही वह शक्ति और सामर्थ्य मिल सकती है, जिससे हम अपना जीवन सफल और सार्थक बना सकते हैं।

मानव उन्नति के ध्येय भी एक ही होकर सामूहिक हों। मैं अपनी सभी तरह से उन्नति और आत्म-विकास करूँगा। मैं सफल बनूँगा आदि एकांगी दृष्टिकोण सर्वथा त्याज्य हैं। सच्ची उन्नति समग्रता में है, जहाँ हम अपने दूसरे भाइयों को साथ लेकर उन्हें सहारा देकर आगे बढ़ाते हैं। यदि हम अकेले भी सुधर जायें और सारा समाज कलुषित हो, तो भी हमारे मनुष्यत्व का तकाजा पूरा नहीं होता। हमें स्वयं मनुष्य बनना है और अपने भाइयों को उसी पथ पर अग्रसर करना है, किंतु इसमें मानव भूल कर जाता है। इसमें शैतान अपना अंतर्वेधक अख चला देता है। मनु में तो सोचते हैं दूसरों को आगे बढ़ा रहे हैं, मार्ग दिखा रहे हैं, किंतु वास्तव में हमारी गति ही अवरुद्ध हो जाती है। हम उपदेश देने लगे जाते हैं। उपदेश देने का अधिकार उनको है, जिन्होंने मनुष्य बनने की मंजिल तय कर ली है, जिनके हृदय से मनुष्यत्व की निर्मल धाराएँ, फूट निकलती हैं, उन्हें उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है, जो उन धाराओं का स्पर्श करेगा वही धन्य हो जाएगा या यों कहिए कि उन नर-रत्नों का जीवन स्वयं ही एक उपदेश हो जाता है, जो युगों-युगों तक मानव-जाति का मार्ग दर्शन करता है।

मनुष्य की मंगलमयी जीवन-यात्रा तभी पूर्ण होती है, जब वह जड़ता से उठकर चेतना धर्म की भूमिका में स्थित हो जाती है। मनुष्य की इस संसार यात्रा का एक मात्र उद्देश्य बनने में ही है। इसलिए सचेत होकर अपने आपको टटोलिये, हम कहाँ हैं ? और इसी क्षण सावधान हो जायें और उस पथ पर चलें, जिस पर चलकर मनुष्य मनुष्य बनता है। जिस पर चलकर संसार को राम, बुद्ध, ईसा, महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, विवेकानन्द, गङ्गामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, समर्थ गुरु रामदास, जैसी विभूतियाँ मिलीं, जिनके जीवन-दर्शन से असंख्यों ने सत्पथ पाया। इनका जीवन स्वयं उपदेश था, जो इनके संपर्क से श्रद्धा लेकर आया, वह क्या से क्या हो गया ? यही मार्ग हमारे लिए भी अपनाने योग्य है। इसी पथ पर हमारे कदम भी बढ़ने चाहिए।



सेवा हमारी जीवन-नीति बने

मनुष्य का शारीरिक और मानसिक अभ्यास जैसा होगा उसी के अनुसार उसके आंतरिक एवं बाह्य जीवन का निर्माण होता है। दूसरों के अहित का विचार करने वाले दूसरों के लिए बुरे, हानिकारक दुष्कृत्य करने वाले, व्यक्तियों के जीवन में इन्हीं तत्त्वों की प्रधानता हो जाती है। उनका स्वयं का जीवन भी बुराई, अहित, हानि और अकल्याण से प्रभावित हो जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

मनीषियों ने कहा है—“पाप का परिणाम पाप ही होता है।” बुराई का फल बुरा और भलाई का भला, सभी ने इसे स्वीकार किया है”, क्योंकि मनुष्य जैसा अभ्यास करेगा वैसा ही वह बनता है। इसीलिए शुभ की प्राप्ति के लिए, अच्छाइयों की वृद्धि के लिए, आचारशास्त्र में परमार्थ, सेवा, दान-पुण्य विविध उपासना, व्रत आदि को धर्म मानकर उन्हें जीवन में प्रमुख स्थान दिया है।

यदि मनुष्य अपने जीवन में सुधार चाहे, शुभ की आकांक्षा रखे तो दूसरों के लिए वही सब करे, जो वह स्वयं अपने लिए चाहता है। दूसरों के लिए वही सोचे जो वह अपने लिए सोचता है। दूसरों के दुःख दूर करने में, कठिनाइयों में मदद करने में, उनका सुधार करने में उनके हित के लिए वही प्रयत्न किया जाए जो मनुष्य अपने लिए करता है। इससे मनुष्य के दुःख, परेशानियाँ, उलझने स्वतः दूर हो जाती हैं। मानसिक गुरुथियाँ सुलझ जाती हैं।

अपनी बुराइयों से सीधे लड़ने पर वे और भी प्रबल होती जाती हैं, ऐसी हालत में उनसे लड़कर विजय पाना कठिन है। अपनी बुराइयों का सुधार करने के लिए उनसे सीधे न लड़कर दूसरों के हित, सेवा कल्याण, में अपनी शक्ति लगानी चाहिए। इससे जो लाभ दूसरों को मिलना चाहिए, वह स्वयं को भी सहज ही प्राप्त हो जाता है। परमार्थ साधन की पुण्य-प्रक्रिया में मनुष्य के स्वयं के दोष, बुराइयाँ भी दूर हो जाते हैं और दुहरा लाभ होता है।

सेवा का आधार जितना निःस्वार्थ होगा, वास्तव में दूसरों के परमार्थ का ध्यान होगा, उतना ही बड़ा सत्परिणाम भी मनुष्य को प्राप्त होगा, किंतु सेवा का ढोंग बना देने पर वह परमार्थ नहीं वरन् दूसरों के साथ धोखादेही छल-कपट चालाकी और स्वार्थ साधन मात्र बनकर रह जाती है। बाहर से ऐसी सेवा का आडंबर कितना ही बड़ा क्यों न हो, कर्ता को उसकी रक्ती भर भी वास्तविक सत्परिणाम नहीं मिल सकता। लोगों में प्रशंसा प्राप्त कर लेने या कुछ कमाई कर लेने मात्र तक ही ऐसे सेवा-आडंबरों का लाभ सीमित रह जाता है।

सेवा के लिए कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते। दूसरों के लिए कोई उपयोगी काम करके, उनसे प्रेम करने के अभ्यास को बढ़ाया जा सकता है, दूसरों की सेवा करके अपने सद्भावों के विकसित किया जा सकता है, दूसरों के दुःख-दर्द को अपना ही दुःख दर्द मानकर, उसको दूर करने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न करना, अभावग्रस्तों की अभावपूर्ति में योग देना, दूसरों के दुःख सुनना, उनकी उन्नति कल्याण में योग देना, दूसरों की हर तरह की सेवा करने के लिए एक सेवक की तरह तैयार रहना—आत्म सुधार के लिए आवश्यक है। जो दूसरों के लिए जितना अपने आपको घुला देगा, वह उतना ही आत्म सुधार के क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकेगा। इस तरह की सेवा से सच्चे प्रेम का उदय होता है, जो मनुष्य के सब कलंकों को धो देता है। अंतर-बाह्य जीवन को निर्मल बना देता है। सेवा के साथ संतोष की वृत्ति अवश्य बनी रहे।

सेवा जितनी बने उतनी करते हुए स्वयं अपनी सेवा करने की क्षमताओं का भी विकास करते रहना आवश्यक है। क्षमताओं के अभाव में सेवा का परिमाण और प्रतिफल स्वल्प ही रहेगा। जितनी व्यापक सेवा होगी, उसके लिए उतनी ही व्यापक क्षमता और शक्ति की आवश्यकता सेवा संबंधित अपनी क्षमताओं का विकास करना भी सेवा का ही एक अंग है। हम चाहते हैं कि गरीबों को भोजन, वस्त्र दे, किंतु हमारे पास देने को होगा, तभी तो हम ऐसा कर

सकते हैं। हम चाहते हैं कि देश को उन्नति, विकास एवं कल्याण की दिशा में आगे बढ़ाएँ, किंतु तत्संबंधी क्षमताओं पर ही तो इसकी पूर्ति निर्भर है। हम चाहते हैं अधिकाधिक लोगों को सद्ज्ञान देकर जीवन लाभ करायें, किंतु इसके पहले हमारे पास ज्ञान की कमाई हुई पूँजी का होना भी तो आवश्यक ही है।

सेवा के परिणाम और फल का ध्यान रखना सेवक के लिए आवश्यक नहीं, उसके लिए प्रयत्न करने का आनंद ही पर्याप्त है। परिणाम और फल की आसक्ति सेवा के आनंद और स्वरूप को नष्ट कर देती है। फिर तो वह अन्य सासांरिक कार्यों की तरह एक व्यवसाय बन जाती है।

संवेदनशीलता दूसरों की सेवा, सहायता, सहानुभूति का मूल आधार है। यह गुण जिसमें जितना होगा वह उतना ही दूसरों की सेवा करने का अधिकारी है। सत् तत्त्व की स्थापना और हृदय शुद्धि से ही संवेदनशीलता का जन्म होता है। अतः सेवक को प्रारंभ में अपने हृदय की शुद्धि और स्वयं में सत् तत्त्व की स्थापना के लिए प्रयत्न करना आवश्यक ही है।

दया, सहानुभूति, संवेदना होना लोकसेवी के लिए आवश्यक है, किंतु उसके साथ तारक बुद्धि उपचार के लिए प्रयत्न का समावेश हो, तभी उसका महत्त्व और उसकी उपयोगिता है। संवेदनशीलता का अर्थ यह भी नहीं कि कोई दुःख से रो रहा हो, तो उसके पास बैठकर हम भी रोने लग जायें। इससे क्या लाभ ? इससे तो अशुभ के प्रसार और स्थायित्व में ही योग मिलेगा। अतः इन सबके साथ तारक, रचनात्मक बुद्धि का होना भी आवश्यक है, जो गरीबों की गरीबी दूर कर सकें, रोने वालों को हँसा सके, गिरे हुओं को उठा सकें।

जीवन की बुराइयों को दूर करके पूर्ण जीवन की ओर अग्रसर होने के लिए भी दूसरों की प्रेरणा देना एक बहुत बड़ी सेवा है। पूर्ण जीवन वह है, जिसमें रस है, उत्साह है आत्मसंतोष है। भोग विलास अथवा दीनता, दरिद्रता, हीनता की भावनाओं को वहाँ

कोई स्थान नहीं है। जीवन की पूर्णता में तो इनकी भावना तक नहीं रहती। मनुष्य बाह्य-दृष्टि से गरीब-दीन हो, किंतु पूर्णता के लिए इसका कोई महत्त्व नहीं है। दरिद्र होकर भी सेवा-दुःख को विकसित करते हुए पूर्णता प्राप्त की जा सकती है।

विकृत मनोभूमि, संकीर्ण मानसिक स्थिति के ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो सदैव सेवाभावी, संवेदनशील व्यक्तियों को धोखा देकर अनुचित लाभ उठाते हैं और यहाँ तक कि दूसरों की सेवाओं से प्राप्त सहायता, सहयोग सहानुभूति को अपना व्यापार बनाकर सदैव इस तरह के आडंबर बनाये रखते हैं, जिससे दूसरों की सेवाओं से प्राप्त सुविधाएँ उन्हें मिलती रहें। इस तरह के लोगों से सेवाशक्ति का शोषण, दुरुपयोग होता है। सेवा, परमार्थ के छद्म वेश में छिपे हुए घोर स्वार्थी लोगों से सदैव बचा जाए, जो सेवा और परमार्थ जन कल्याण के नाम पर दूसरों की भावनाओं, सेवा के साधनों का दुरुपयोग करते हैं। सेवक के लिए इस बात में जानकारी भी होनी चाहिए कि लोग उसकी संवेदनशीलता, सद्भावना सेवा का अनाधिकृत लाभ उठाकर, उसका दुरुपयोग न करें। सेवा के लिए सही योग्य उपयुक्त जरूरतमंदों का भी ध्यान रखा जाये। साथ ही सबके सामने अपनी कठिनाई, दरिद्रता को भी प्रकट न होने दें, जिससे दूसरे लोग उसकी सहायता के लिए आकर्षित हों। ऐसा होने पर तो सेवा एक व्यापार बन जायेगी और सेवक को उलटा लाभ कमाने का अवसर मिलने लगेगा। सच्चे सेवक न तो दूसरों के आगे अपनी कठिनाइयों को प्रकट करते हैं, न इस तरह रहते हैं कि उन्हें त्यागी कहलाने की प्रशंसा प्राप्त हो।



चरित्र ही संसार की सर्वोत्तम उपलब्धि है

यह कम खेद का विषय नहीं है कि लोग धन की लिप्सा में चरित्र को भूलते चले जा रहे हैं। न जाने लोग इस सत्य को समझने का प्रयत्न क्यों नहीं करते कि चरित्र के अभाव में धन एक भयानक अभिशाप बन जाता है।

आवश्यकता से अधिक धन-लिप्सा पूरी करने में लोग इतने बावले हो जाते हैं कि उन्हें उचित-अनुचित का तनिक भी ध्यान नहीं रहता। इस प्रयत्न में वे यह भी भूल जाते हैं कि उनके ये कृत्य उनकी आत्मा को दिन-दिन गिराते हुए उनके लिए एक ज्वलंत नरक का निर्माण कर रहे हैं।

निश्चित है जब मनुष्य आवश्यकता से अधिक धन एकत्र करना चाहेगा, तो उसे शोषक, क्रूर एवं अनुदार बनना ही होगा। उसे दूसरे का हिस्सा छीनकर, लूटकर अथवा ठगकर अपनी थैली मोटी करनी पड़ेगी। उसे दया, सहानुभूति, सहायता, संवेदना एवं उदारता के मानवीय गुणों को तिलांजलि देकर अपने को पाषाण-खंड की तरह नीरस एवं निर्मम बनाना होगा। उसे अपने व्यवसाय में बेईमानी और कारोबार में मक्कारी को प्रश्रय देना होगा। धन के लिए मानवीय गुणों को छोड़कर इन आसुरी दुर्गुणों को अपने में लाने में लोग कौन-सी बुद्धिमानी मानते हैं, यह बात किसी भी विचारवान् व्यक्ति की समझ में नहीं आ सकती।

चरित्र की महत्ता पैसे से कहीं बढ़कर है। जिसने धन के लोभ में चरित्र खो दिया है अथवा चरित्र को खोकर धन कमाया है, उसने मानो पाप ही कमाया है। चरित्रहीन व्यक्ति का संसार में कहीं भी आदर नहीं होता, फिर उसका बैंक बैलेंस कितना ही लंबा-चौड़ा क्यों न हो ? इसके विपरीत चरित्रवान् व्यक्ति निर्धनता की दशा में भी सब जगह सम्मान की दृष्टि से ही देखा जाता है।

यह चरित्र एवं सदाचरण का ही प्रभाव होता था कि पूर्व काल में किसी ऋषि अथवा मुनि के आ जाने पर बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् उनके आदर में सिंहासन छोड़कर खड़े हो जाते थे। पूर्व काल ही क्यों—आज भी तो जब कोई विश्वस्त महात्मा अथवा आचरणवान् व्यक्ति आ जाता है, तो लोग उसके प्रति अहेतुक आदर भाव प्रदर्शित करने लगते हैं। कहाँ दयनीय वेशभूषा में धन-वैभव से रहित महात्मा गाँधी और कहाँ संसार का सबसे शक्तिशाली सम्राट् पंचम जार्ज, किंतु महात्मा गाँधी के उज्ज्वल चरित्र एवं सत्याचरण का ही चमत्कार था कि उक्त सम्राट् को अपनी राज-परंपरा की उपेक्षा करके, उनसे समानता के स्तर पर आकर और खड़े होकर हाथ मिलाना पड़ा। यह शक्ति एवं वैभव पर चरित्र की विजय थी। अनेक लोग इस घटना का अवमूल्यन करने के लिए कह सकते हैं कि गाँधी जी की उस मान्यता के पीछे भारत के विशाल जनमत की श्रद्धा का बल था, किंतु जनमत की श्रद्धा जीतने की पीछे किसका बल था ? निश्चय ही वह बल महात्मा के चरित्र एवं उज्ज्वल आचरण का ही था, जिसका, संसार के सारे धन-वैभव की अचाहना करके, उन्होंने प्रयत्नपूर्वक विकास किया था। जिस विवेक बल पर गाँधी जी भारत का लोक नायकत्व प्राप्त कर सके थे, यदि वे चाहते, तो उसी विवेक के बल पर असंख्य-पति बन सकते थे, जिस प्रकार लोग बने और बनने का प्रयत्न कर रहे हैं, किंतु तब उनकी यह चरित्र रहित धनाद्यता उनके लिए उस विशाल सम्मान का उत्पादन न कर सकती थी, जो उन्हें मिला और संसार ने उन्हें दिया।

धनी मानी वह नहीं है जिसके पास सोने-चौंदी अथवा मुद्राओं की बहुतायत है और न धनी मानी उसे ही माना जा सकता, जिसका कारोबार लंबा-चौड़ा है, धनी मानी वास्तव में वही है, जिसके पास चरित्र रूपी धन है। माननीय यदि संसार में कोई वस्तु हुई है और आगे भी होगी, वह मनुष्य का महान् चरित्र ही है। धनी का आदर तो लोग स्वार्थवश करते हैं—वह भी वे लोग जिनमें धन-

लिप्सा की दुर्बलता होती है। स्वार्थ निकल जाने अथवा आशा न रहने से स्वार्थी व्यक्ति तक उस धनवान् का आदर करना छोड़ देते हैं, जिसके पीछे चरित्र की विपुलता नहीं होती।

सच्चरित्रता से मनुष्य की आंतरिक शक्तियों का विकास होता है। चरित्रवान् व्यक्ति संसार में कहीं भी निर्भयतापूर्वक विचरण कर सकता है। भय, अवमानना अथवा अप्रतिष्ठा की तुच्छ शंका उसके पास से होकर नहीं जाती। चरित्रवान् की आत्मा इतनी उज्ज्वल एवं बलिष्ठ हो जाती है, उसका आत्म-विश्वास इतना ऊँचा हो जाता है कि वह निर्धन होते हुए भी धनवानों के बीच निःसंकोच होकर आता-जाता, बात करता और समुचित सम्मान पाता है। चरित्रवान् व्यक्ति अल्पबल होने पर भी बड़े-बड़े बलवानों के बीच निर्भयता का प्रमाण ही नहीं देता, अपितु उन्हें प्रभावित किया करता है। किसी चरित्रवान् व्यक्ति को कभी कोई चरित्रहीन बलवान् निरस्त कर सका है, ऐसा इतिहास आज तक कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सका है।

निर्भयता, चरित्र की विशेष देन है। चरित्रवान् व्यक्ति संसार में किसी भी भयभीत नहीं होता। उसे अपने तथा अपने आचरण पर अखंड विश्वास रहता है। उसे मालूम रहता है कि उसने कोई भी अनुचित काम नहीं किया और यह भी जानता है कि वह कोई गलत करेगा भी नहीं। मन-वचन-कर्म से औचित्य का पालन करने वाले के पास भय नामक दुर्बलता आ ही नहीं सकती।

अपने सिद्धांतों का बहुत अधिक विरोध करते देखकर पोप ने प्रसिद्ध धर्म प्रचारक महात्मा मार्टिन लूथर के पास संदेश भेजा कि या तो वह पोप के विरुद्ध प्रचार करना बंद कर दे, नहीं तो उसका सिर कटवा लिया जाएगा। सत्याचरण के निवासी मार्टिन लूथर ने कहला भेजा कि—मुझे खेद है कि मेरे पास एक ही सिर है, यदि हजार सिर होते और वे सब इस धर्म-सुधार की पुण्य वेदी पर बलिदान हो जाते, तो मैं अपने को अधिक धन्य समझता।”

महात्मा लूथर की यह निर्भकता उनके उच्च चरित्र तथा सत्याचरण का ही प्रमाण था। कोई भी चरित्रहीन व्यक्ति, एक तो धर्म-सुधार के असिमार्ग पर चलने का साहस नहीं करता और यदि वह किसी कारणवश चल भी देता, तो पोप की यह धमकी सुन कर उसके पैर डगमगा जाते और वह मैदान से भागकर किसी कोने में छिपा रहता अथवा पोप के ही पैरों पर जा गिरता, किंतु धन्य है सच्चरित्रता को—जिसने एक सामान्य जैसे व्यक्ति लूथर को महात्मा बनाकर इतना साहसी, निर्भीक एवं आत्म विश्वासी बना दिया कि वह पोप जैसे शक्तिशाली व्यक्ति की चुनौती हँसते-हँसते स्वीकार कर सका।

चरित्रवान् व्यक्ति को अखंड विश्वास रहता है कि उसके सदाचरण से आकर्षित होकर जनमत उसके पक्ष में ही रहेगा। वह जानता है कि वह सच्ची निष्ठा के साथ वही काम कर रहा है, जिसकी मानव जाति को आवश्यकता है और उसके लिए पूरी तरह हितकर है। उसे अपने मन, वचन, कर्म में इतना पवित्र विश्वास रहता है कि संसार में उसका कोई शत्रु हो ही नहीं सकता और यदि कोई खल अथवा दुष्ट उसके साथ विश्वासघात करेगा भी तो उसकी वह मृत्यु बलिदान मानी जायेगी, लोक में उसकी स्मृति पूजी जायेगी और परलोक में सद्गति का अधिकारी बनेगा। इस प्रकार चरित्रवान् व्यक्ति अपने मन, वचन, कर्म के सत्य-सदाशयता के बल पर निर्भय रहता है। न उसे लोक का भय सताता है और न परलोक का।

धन के अभाव में मनुष्य ऊँचा उठ सकता है, विद्या के बिना निर्वाह कर सकता है, किंतु आचरणहीनता की दशा में वह सदैव हेय एवं घृणित ही बना रहेगा। ढेरों धन कमा लेने और गूढ़ ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी यदि मनुष्य अपने चरित्र को उज्ज्वल न रख सका, तो लोग उसके धन से घृणा करेंगे और ज्ञान में अविश्वास। वह जहाँ भी जायेगा—एक आदरपूर्ण भाव-बिंदु के लिए तरसेगा। वह चाहेगा कि लोग उसे प्रेम से अपने पास बिठा ले और

विश्वासपूर्वक बात करें, किंतु उसकी यह इच्छा कहीं पूरी नहीं होगी। वह लोगों पर अपने धन का प्रभाव डालने के लिए सहायता का हाथ बढ़ायेगा, किंतु लोग उसकी उस सहायता-भावना में शंका करेंगे। कोई कुत्सित मतव्य का भय मानेंगे। चरित्रहीन के सत्कर्म तक लोगों के लिए शंका एवं संदेह का विषय होते हैं।

चरित्रहीन के पास ईमान अथवा सिद्धांत नाम की कोई वस्तु नहीं होती। उसका ईमान अधिकतर पैसा और सिद्धांत केवल स्वार्थ होता है। चरित्रहीन ईमानदारी दिखलाता है किसी को धोखा देने के लिए, सिद्धांत की दुहाई देता है स्वार्थ सिद्धि के लिए। उसका कोई भी कार्य अथवा कथन किसी प्रकार विश्वसनीय नहीं होता। चरित्रहीन के साथ कितना ही उपकार क्यों न किया जाए, उस पर कितना ही विश्वास क्यों न किया जाए, पर अवसर पाते ही वह डंक नहीं मारेगा, ऐसा किसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता। ऐसी अविश्वसनीय स्थिति किसी भी मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष नरक ही कही जा सकती है। जीने को तो संसार में चरित्रहीन व्यक्ति भी जीते हैं, किंतु अविश्वास, संदेह, शंका, कलंक अथवा लांछनापूर्ण जीवन-जीवन नहीं है। यह कोई अत्युक्तिपूर्ण कथन नहीं है, एक तथ्य है, जिसको भद्र पुरुष ही नहीं—चरित्रहीन व्यक्ति भी भली प्रकार जानता है।

चरित्र मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति तथा संपदा है। संसार की अनंत संपदाओं के स्वामी होने पर भी यदि कोई चरित्रहीन है, तो वह हर अर्थ में विपन्न ही माना जायेगा। निर्धन एवं साधनहीन होने पर भी चरित्रवान् का मस्तक समाज में सदैव ऊँचा रहता है, उसकी आँखों में चमक और मुख पर तेज विराजमान रहता है। इसके विपरीत चरित्रहीन का व्यक्तित्व अपनी मलीनता को मखमल में भी नहीं छिपा सकता।

संसार में उल्लेखनीय कार्य करने वालों में से एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं रहा है, जो पूरी तरह से चरित्रवान् न हो। जन नेतृत्व करने अथवा समाज की गति बदल देने की शक्ति केवल

चरित्र से ही प्राप्त हो सकती है। मानव समाज का जो भी विकास आज तक हुआ है या जो उन्नति और विकास आगे होगा—उसके पीछे चरित्र धनी सदाचारी लोगों का ही कर्तव्य रहा है और आगे भी रहेगा।

चरित्रबल संसार में सब बलों से श्रेष्ठ और सारी संपत्तियों में मूल्यवान् संपत्ति है। इसे पाने में मनुष्य का कुछ भी तो खर्च नहीं होता। सदाचार एवं चरित्र मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। स्वभावतः संसार का कोई भी मनुष्य दुश्चरित्र होकर नहीं जन्मता, चरित्रहीनता मनुष्य का आरोपित दोष है। हर मनुष्य का सहज कर्तव्य है कि वह हर मूल्य पर अपने चरित्र की रक्षा करे और यदि वह किसी कारण से विक्षत हो गया है, तो हर मूल्य एवं हर प्रयत्न पर उसे शुद्ध एवं स्वस्थ करना चाहिए। इस नश्वर मानव जीवन में चरित्र ही अमर उपलब्धि है। वह मनुष्य को नर से नारायण बना देता है।



व्यक्ति के मूल्यांकन का मापदंड बदलें

आज समाज में चारों ओर अन्याय, अनीति तथा भ्रष्टाचार का जो तांडव दिखाई दे रहा है और पिस-पिस कर जनता चकनाचूर हुई जा रही है, उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व उस गलत मापदंड पर भी है, जिसके कि आधार पर मनुष्यों का मूल्यांकन किया जा रहा है।

लोगों ने देखा कि कितनी विशाल कोठी है। चाँदी की तरह चमक रही है। खिड़की, दरवाजे और रोशनदान रंगीन काँच में जड़े हुए हैं। रेशमी परदे झिलमिला रहे हैं। मूनलाइट बल्व जल रहे हैं, रेडियो से गायन-वादन के स्वर गूँज रहे हैं। आँखें चकाचौंध हो गई, कान लालायित हो उठे। मन कह उठा—साक्षात् स्वर्ग का निवास है। बड़ा भाग्यवान् है इसका मालिक ! कितना बड़ा आदमी होगा ? लाखों-करोड़ों होंगे इसके पास। अनायास श्रद्धा जागी और उस अनजाने धनवान् की ओर झुक गई। उसका बड़े आदमी के रूप में मूल्यांकन हो गया। वह चर्चा और प्रशंसा का पात्र बन गया और कोई अवसर आने पर पूजा-प्रतिष्ठा के रूप में उसका मूल्य व्यक्त कर दिया जाता है।

धन-प्रतिष्ठा का विषय रहता है, इसलिए कि यह परिश्रम एवं पुरुषार्थ का साक्षी होता है। प्राचीन समय में जब धन को प्रतिष्ठा के विषयों में स्थान दिया गया था, लोग यह कल्पना तक भी न कर सकते थे कि इसके उपार्जन अनीति के मार्ग से भी किया जा सकता है। अनुचित तथा अनीति के पैसे और पैसे वालों से लोग ऐसे डरते और घृणा किया करते थे—जैसे विषैले सर्प से। कोई किसी का अन्न पाने, दान या सहायता लेने में हजार प्रकार से सोच-विचार किया करते थे। उसी की सेवा अथवा सहायता स्वीकार करते थे, जिसकी कमाई के विषय में यह विश्वास रहता था कि प्रत्यक्ष तो क्या, परोक्ष रूप में भी इसका पैसा अन्याय

अथवा अनीति से दूषित नहीं हुआ है। यदि इस प्रकार का संदेह भी हो जाता था, तो समाज का बच्चा-बच्चा लक्षाधिपति होने पर भी उस धनवान् को नीची नजर से देखा करता था, जिससे उसकी धनाद्यता ही उसके लिए काल-फॉस की तरह दुखदायिनी हो जाती थी।

समाज द्वारा इस कठोर मूल्यांकन से अनुशासित तब के धनवान् अपने व्यापार एवं व्यवसाय में पराकाष्ठा तक पवित्र एवं सत्यपरायण रहकर, विशुद्ध परिश्रम एवं पुरुषार्थ से उस स्थिति तक पहुँचकर प्रतिष्ठा के पात्र बनते थे। साथ ही यह विशुद्धता भी तब तक मान्यता नहीं पाती थी, जब तक उसका पवित्र धन पवित्र एवं पुनीत कामों में व्यय नहीं होता था। इस प्रकार आय-व्यय दोनों की समान पवित्रता से तुलकर ही कोई धनवान् धन के आधार पर उसी प्रकार समाज में मान्यता एवं श्रद्धा के भाजन बन पाते थे जैसे जन-सेवा के अन्य कार्य करके कोई सत्युरुष।

पहले जहाँ धन की मात्रा का कोई मूल्य नहीं था, मूल्य था उसके आय-व्यय की रीति-नीति का। वहाँ आज आय-व्यय की रीति-नीति का तो कोई मूल्य रहा नहीं। धन की मात्रा को ही श्रेष्ठत्व का मापदंड मान लिया गया है। स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई है, इसलिए उसका प्रभाव एवं परिणाम भी उलटा हो गया है।

लोगों ने कोठी, कार, बिजली, पंखा, रेडियो, नौकर-चाकर, हास-विलास और मोद-प्रमोद की चहल-पहल देखी नहीं कि बड़ा आदमी मान लिया और मान-सम्मान देना शुरू कर दिया। मान-सम्मान जैसी बहुमूल्य चीज और श्रद्धा जैसी दुर्लभ वस्तु जोकि त्याग, तपस्या, साधना, सेवा, श्रम और पुरुषार्थ के बिना इतनी सस्ती और आसानी से मिल सकती है, तब किसी ने क्या भाँग खाई है कि वह प्रतिष्ठापूर्ण जीवन जीने के लिए संयम तथा साधना करता फिरे, सेवा और त्याग का प्रमाण देता घूमे, क्यों न

किसी प्रकार से धन बटोरकर उसे प्राप्त किया जाये ! जनता द्वारा धन के प्रभाव में आकर दी जाने वाली इस सस्ती सामाजिक प्रतिष्ठा ने लोकप्रियता के प्यासे लोगों की अंध आर्थिकता में खो दिया है।

यही नहीं कि लोग किसी का धन-वैभव देखकर ही प्रभावित हो जाते और उससे प्रतिष्ठापूर्ण दृष्टि से देखने लगते हों, फिर चाहे उसका वह धन उनके अथवा समाज के किसी हित में आता हो या न आता हो—प्रतिष्ठा का स्तर इतना गिर गया है, सम्मान इतना सस्ता हो गया है कि लोग धन के संचय को ही नहीं, अपब्यय तक को श्रद्धा दृष्टि से देखते हैं। नाच-रंग में छूबा रहना, शराबखोरी और फैशनपरस्ती में लगा रहना, व्याह-शादियों में धूम-धड़ाका करते रहना, बड़ी-बड़ी दावतों और जश्न में पैसा पानी की तरह बहाना तक लोगों के लिए श्रद्धास्पद बन जाता है। लोग उसे उदार, बड़ा आदमी, शाहखर्च कहकर सम्मान करते और रास्ता देते हैं। जनता की इस सस्ती श्रद्धा और अस्तरीय मापदंड ने भी लोगों की अंध आर्थिकता बढ़ाने में बहुत कुछ योग दिया है।

हर बुद्धिमान् व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है कि वह किसी के वैभव-विलास से प्रभावित होकर उसका मूल्यांकन करने से पूर्व यह अवश्य देख ले कि इस संपत्ति का आधार नीतिपूर्ण रहा है या नहीं ? उसे उसके साधन, उपायों तथा मुकितयों की पवित्रता को खोज कर लेना आवश्यक है, जिससे कि गलत कामों के मूल्यांकन का अपराध न हो जाए।

जब यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि अमुक व्यक्ति छल, कपट, छीना-झपटी, चोर बाजारी, मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार को आधार बनाकर कोठी पर कोठी बनाये जा रहा है, बैंक बैलेंस और कारोबार बढ़ाया जा रहा है, तब क्या उसे अधिकार है कि वह हमारी प्रशंसा अथवा सम्मान की भावना को

पाये और क्या हमें ही अधिकार है कि हम उसे वह सब कुछ दें ? यदि हम दोनों में से कोई भी ऐसा करता है, तो अनधिकार चेष्टा करता है; समाज में अंध अर्थवाद को बढ़ावा देकर भ्रष्टाचार फैलाने में सहयोग करता है, जो कि रिश्वत रूप से सामाजिक अपराध और आध्यात्मिक पाप है। आज यदि लोग धनाद्यता का मूल्यांकन करना छोड़कर साधनों और उसके उपायों पर ध्यान रखने लगें, तो समाज के पैसे के लिए फैला हुआ भ्रष्टाचार बहुत कम हो सकता है। अनुचित साधनों के कारण यदि धनियों का मूल्यांकन कम हो जाए, उनका वह अन्याय-उपार्जित वैभव घृणा एवं तिरस्कार का प्रसंग बन जाए, तो निश्चय ही लोग आवश्यकता से अधिक धनवान् बनने की लिप्सा छोड़कर सम्मान-रक्षा के लिए कमाई के उचित एवं उपयुक्त उपाय अपनाने के लिए विवश हो जायें।

आर्थिक क्षेत्र की तरह धार्मिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जनता के मूल्यांकन की कसौटी खोटी हो गई है। जिसे भी रंगे कपड़े पहने, जटा रखाये, चंदन लगाये और भस्म रमाये देख लिया, उसी को महात्मा, संत अथवा साधु समझ लिया और पूजा-प्रसाद चढ़ाने लगे, सेवा करने और वरदान की आशा लगाने लगे। जिसको भी धार्मिक शब्दावली में वाचालता करते सुन लिया उसी को विद्वान्, दार्शनिक तथा तत्त्वज्ञाता मान लिया। जिसे भी हाथ उठाये, पैर गड़ाये, शरीर तपाते, पानी में खड़े या सूर्य से आँख मिलाये देख लिया, उसे ही सिद्ध, चमत्कारी, मुक्त वीताराग, गुणातीत आदि न जाने क्या-क्या समझकर, पूजा-प्रतिष्ठा करने लगे।

जनता की इस सस्ती श्रद्धा ने आध्यात्मिक क्षेत्र में रंगे स्थारों की बाढ़ बुला दी है। जब ढोंग, आड़बर तथा बहुरूपियापन करके तपस्वियों तथा सिद्धों जैसी पूजा पाई जा सकती है, स्थान पर बैठे-बैठे प्रजापा प्राप्त किया जा सकता है, तब क्या जरूरत है

कि त्याग-तपस्या का असिधारा के समान तीखा मार्ग अपनाया जाए ?

पता नहीं श्रद्धा जैसी बहुमूल्य संपत्ति को लोग बिना परखे—पहचाने ढोंगियों तथा आड़बरियों पर क्यों लुटाते-फेंकते हैं ? वे यह क्यों सोचने-समझने की कोशिश नहीं करते कि अध्यात्म साधना और उसकी सिद्धियाँ यदि इतनी ही सरल और सस्ती होतीं, तो प्राचीन ऋषि-मुनि आत्म-परिष्कार, चिंतन-मनन तथा स्वाध्याय में अपना जीवन क्यों खपा देते ? आध्यात्मिक सिद्धियों के धनी क्या इस प्रकार गली-गली पैसा और प्रतिष्ठा माँगते घूमते हैं। क्या यह शंका और संदेह का विषय नहीं है कि जो दूसरों को धन, वैभव, संपत्ति, संतान का वरदान देने की क्षमता रखता है, वह क्यों स्वयं दिरिद्र, भिखारी तथा पैसे-पैसे के लिए जान दे रहा है ? क्या दूसरों को लाखों का वरदान देकर दो पैसे माँग ले जाने वाला सिद्ध हो सकता है ? उसकी पूजा की जानी चाहिए ? इस मान्यता में कौन-सी तुक है—यह बात समझ में नहीं आती। अटपटे शब्दों का उच्चारण और विलक्षण क्रिया-प्रतिक्रिया के साथ भूत भगाने वाले, रोग और दोष दूर करने वाले यदि पूजा-प्रतिष्ठा के अधिकारी हो सकते हैं, तो विचित्र-अनबूझ भाषा बोलने और असंगत काम करने वाले पागल पूजा के अधिकारी नहीं हैं, ऐसा किस प्रकार कहा जा सकता है ?

भाषण सुनकर भक्त हो जाने और शब्द सुनकर ही विश्वास कर लेने की सार्वजनिक दुर्बलताएँ समाज में नित्य नये वाक्-वंचकों को जन्म देती और आगे बढ़ती रहती हैं। शब्द सुनकर ही किसी के प्रभाव में आ जाना वह प्रोत्साहन एवं प्रेरणा है, जिससे लोग व्यक्तिगत आचरण की उपेक्षा कर वाक्-पटुता का अभ्यास करके सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठा पा लेते हैं। जनता पर यदि महत्त्व का मापदंड होता, तो निश्चय ही वाक् वंचकों की बुद्धि पर अंकुश लग

जाता और समाज परिगत-प्रवृत्ति के धर्म-ध्वजियों तथा धंधे वालों से होने वाली हानियों से बच जाता और धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में बढ़ रहे भ्रष्टाचार की बाढ़ पर रोक हो जाती, किंतु खेद है कि जनता की अंधे श्रद्धा, अंधविश्वास और मूल्यांकन की खोटी कसौटी ही हित-अनहित का निर्दर्शन नहीं करने देती।

यह बात बड़ी सीमा तक सत्य मानी जा सकती है कि यदि जनता आज बुद्धिमानी से काम ले और मूल्यांकन के विषय में अपनी श्रद्धा एवं प्रतिष्ठा का मापदंड ऊँचा करे तथा सही कसौटी को काम में लाये, तो उक्त महान् एवं व्यापक क्षेत्रों में से भ्रष्टाचार बहुत अंशों तक दूर हो जाए। अर्थ तथा धर्म के क्षेत्र में देखने, परखने और मूल्यांकन करने का सही मापदंड साधन और सच्ची कसौटी व्यक्ति के कथन तथा आचरण की एकरूपता ही है। जिस दिन जनता इस सत्य को हृदयंगम कर तटस्थ आचरण करने लगेगी, उसी दिन से सुधार का शुभारंभ प्रारंभ हो जायेगा।



धन को सम्मानित न किया जाए

सचाई मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है। इसके अभाव में जीवन हर ओर कंटकाकीर्ण हो जाता है। क्या वैयक्तिक, क्या सामाजिक और क्या राष्ट्रीय हर क्षेत्र में सचाई का बहुत अधिक महत्व है। व्यक्तिगत जीवन में मिथ्याचारी किसी प्रकार की आत्मिक उन्नति प्राप्त नहीं कर सकता, सामाजिक जीवन में अविश्वास एवं असम्मान का भागी है और राष्ट्रीय जीवन में तो वह एक आपत्ति ही माना जाता है।

व्यक्तिगत जीवन में आहार-विहार में मिथ्याचार करने से न जाने कितने प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोग-दोष पैदा हो जाते हैं, जिनके संघर्ष करते-करते ही बहुमूल्य मानव-जीवन समाप्त हो जाता है, जिससे न तो वह वर्तमान जीवन में कोई सुख-शांति पा सकता है और न आगे के लिए उसकी कोई व्यवस्था कर पाता है।

मानव जीवन के परम लक्ष्य सुख-शांति को पाने के लिए जिस शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है, मिथ्याचारी के जीवन में उसका कभी आगमन नहीं होता। मिथ्याचार का अर्थ ही यह है कि वह सब कुछ न करना, जिसको कि करना चाहिए और वही सब कुछ करना, जिसको कि नहीं करना चाहिए।

यद्यपि इस प्रकार के अकरणीय कार्यों को अज्ञानवश करने से भी कोई परिणाम के कुफल से बच नहीं पाता, तथापि जो जानता हुआ भी अकरणीय कार्य किया करता है, उसकी दुर्दशा की तो कल्पना कर सकना ही कठिन है। धूर्त और मक्कार लोग ऊपर से कितने ही खुश और खुशहाल क्यों न दिखाई दें, किंतु अंदर से वे बड़े ही व्यग्र-विकल तथा दरिद्री रहा करते हैं। उनके हृदय में हर समय एक जलन, एक पश्चात्ताप एवं आत्म-ग्लानि कसका करती है, जो उन्हें आंतरिक शांति से सर्वथा वंचित कर दिया करती है और यही आंतरिक अशांति मनुष्य के लोक-परलोक में आग लगाने का हेतु हुआ करती है।

मिथ्याचार सामाजिक जीवन में अविश्वास एवं असम्मान के परिणाम उपस्थित करता है। ऐसा व्यक्ति बेईमान, मक्कार और धूर्त सिद्ध हो जाता है, लोग उससे व्यवहार करने से बचते हैं। अपना कोई काम मिथ्याचारी को न तो सौंपते हैं और न उसका कोई काम करने को तैयार होते हैं। उसके किये कामों और कहे वचनों में विश्वास नहीं करते। एक बार यदि मिथ्याचारी किसी काम अथवा कथन में सत्यता का व्यवहार भी करता है, तब भी कोई उस पर विश्वास नहीं करता और उससे दूर रहने का प्रयत्न किया करते हैं।

मिथ्याचारी से घृणा किया जाना तो एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। लोग उसके मुँह तक पर बेईमान, चोर और धूर्त कह देते हैं, इसके एवज में वह क्यों न क्रोध करने लगे और क्यों न लड़ने को तैयार हो जाए ? किंतु यह सब उसका ऊपरी दिखावा मात्र होगा, उसकी आत्मा इस सत्य को स्वीकार ही करती रहती है।

मिथ्याचार के दोष से मनुष्य में कायरता तथा दब्बूपन आ जाता है। वह खुलकर न तो समाज में बात कर पाता है और न विश्वासपूर्वक खुले तौर पर कोई काम कर सकने का साहस कर पाता है। वह हर समय चोर की तरह डरा-डरा और दबा-दबा रहा करता है। समाज में उसकी इज्जत दो कौड़ी की हो जाती है। जब तक उसकी काठ की हाँड़ी चढ़ी रहती है, वह अपने को बड़ा बुद्धिमान् समझकर प्रसन्न रहता है, किंतु भेद खुलते ही जो कि शीघ्र खुल ही जाता है—ऐसी दयनीयता के हिल्ले लग जाता है कि किर जीवन भर पछताने और दुःखी होने के सिवाय कोई चारा ही नहीं रह जाता।

राष्ट्रीय-जीवन का मिथ्याचार सबसे भयानक होता है, राष्ट्रीय स्तर का मिथ्याचार व्यक्ति ही नहीं, समस्त समाज को संकट में डाल देता है। राष्ट्रीय मिथ्याचार ही पराधीनता, शोषण, अत्याचार तथा अवमानना का हेतु बना करता है। यही नहीं, कभी-कभी तो राष्ट्रीय स्तर का मिथ्याचार राष्ट्रों को ही मिटा दिया करता है।

आज खेद के साथ देखना पड़ रहा है और शोक के साथ कहना पड़ रहा है कि भारतवासियों के जीवन में ईमानदारी और सचाई दिन-दिन निकलती चली जा रही है। संसार में अपनी सचाई तथा नैतिकता के लिए प्रसिद्ध भारतीय राष्ट्र आज मिथ्याचार एवं अनैतिकता के लिए बुरी तरह बदनाम हो रहा है।

वह वही भारतीय राष्ट्र है, जिसके घरों में ताले नहीं डाले जाते थे, प्रहरी नहीं रक्खे जाते थे, लोग एक-दूसरे के रक्षक स्वयं ही बने रहते थे, धोखे से मिथ्याचार हो जाने से प्राण देकर प्रायशिक्ति किया करते थे, अनजान में भी किये गये पाप को स्वयं प्रकाशित कर दिया करते थे और जब तक उसका परिमार्जन नहीं कर लेते थे, अपने को सामाजिक जीवन के योग्य नहीं समझते थे।

आज के बढ़े हुए ऐसे आर्थिक दुराचार के मूल में धन की अपरिमित लिप्सा ही काग कर रही है। यह स्पष्ट है कि जीवन की वास्तविक आवश्यकता किसी को भ्रष्टाचार करने के लिए विवश नहीं कर रही है, क्योंकि मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताएँ इतनी कम होती हैं कि वे ईमानदारी की कमाई से भी, यदि मितव्ययता और सादगी का जीवन जिया जाए, तो सहज ही पूरी हो सकती हैं। आज का सारा मिथ्याचार मिथ्या आवश्यकताओं और आडंबरपूर्ण फिजूलखर्ची की आदतों के कारण ही फैला हुआ है।

आज लोग बड़े प्रदर्शनवादी और दुर्व्यसनी बन गये हैं। अनावश्यक अपव्ययता ने उनकी आवश्यकताएँ जमीन से आसमान तक बढ़ा दी हैं। हमारे जीवन में आदर्शवाद का स्थान भोगवाद ने ले लिया है। “सादा जीवन, उच्च विचार” का सिद्धांत भुलाकर लोग ओछे विचार और दिखावे का जीवन पसंद करने लगे हैं। कम से कम परिश्रम में अधिक से अधिक धन पैदा करने की प्रवृत्ति ने लोगों को भ्रष्टाचार के पाप की ओर अग्रसर कर दिया है।

जहाँ इस पतन में मनुष्य की मानसिक दुर्बलता काम कर रही है, वहाँ कुछ खर्चोंले सामाजिक रीति-रिवाज भी इसके उत्तरदायी हैं। व्याह-शादी, देन-दहेज, प्रीतिभोज और मृत्युभोज जैसी

सामाजिक कुरीतियाँ भी ऐसी ही रीति-रिवाजें हैं, जो हमें किसी प्रकार भी अधिक पैसा कमाने पर मजबूर कर रही हैं।

इसके साथ ही समाज में पैसा ही आदर-सम्मान और बड़प्पन का मापदंड बन गया है। जिसके पास जितना ज्यादा पैसा है, वह आदमी उतना ही अधिक बड़ा और आदर-सम्मान का पात्र माना जाने लगा है। पैसे को बड़प्पन का चिह्न मानने वाले और धन देखकर अथवा उससे प्रभावित होकर किसी को आदर सम्मान देने वाले यह क्यों नहीं देखते कि इतने पैसा कमाया किस मार्ग से है? पाप से पैसा कमाकर भी कोई पसीने की कमाई में विश्वास क्यों करने लगे?

यह बात सही है कि पैसा भी बड़प्पन का चिह्न माना जाता रहा है। उसका कारण यही था कि आसानी से न मिल सकने के कारण लोगों को इसके लिए कठिन परिश्रम एवं पुरुषार्थ करना पड़ता था। इस प्रकार जिसके पास जितना पैसा होता था, वह उतना ही परिश्रमी, सद्गुणी एवं पुरुषार्थी माना जाता था। इस प्रकार धन के कारण दिया जाने वाला बड़प्पन वास्तव में उस परिश्रम एवं पुरुषार्थ का ही सम्मान हुआ करता था, जो कि पैसा कमाने में लगाया था, किंतु अब स्थिति बदल गई है। लोग परिश्रम एवं पुरुषार्थ के बजाय धूर्तता, भ्रष्टाचार तथा बेर्इमानी से पैसा अधिक इकट्ठा करने लगे हैं। इसलिए पैसे के कारण किसी को सम्मान देने का मतलब है—भ्रष्टाचार एवं बेर्इमानी की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना।

यदि समाज से बेर्इमानी तथा दुष्कृतियों को कम करना है, तो पैसे के बजाय मनुष्य के गुणों का आदर करना होगा। जीवन से यथा-संभव उन वस्तुओं का बहिष्कार कर देना होगा, जिनसे लोगों को भ्रष्टाचार करने का अवसर मिलता है।



नागरिकता और नैतिकता की आधारशिला

परस्पर दुर्भाव की धारणाओं के कारण संघर्ष और विद्वेष की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। उनके फलस्वरूप अवांछनीय अनैतिक और अशोभनीय घटनाएँ आये दिन घटित होती रहती हैं। आज सर्वत्र अधिकारों की माँग प्रबल हो रही है, दूसरों से अधिक सुविधाएँ प्राप्त हों यह अपेक्षा की जाती हैं, पर कर्तव्यों का किसी को ध्यान नहीं। कर्तव्यों की उपेक्षा करते हुए अधिकारों की माँग करने से कलह का जन्म होता है। शांति का तरीका यह है कि अधिकारों की उपेक्षा करते हुए कर्तव्यों का बुरी तरह पालन किया जाए।

नागरिक जीवन की सुव्यवस्था इस बात पर निर्भर है कि हर व्यक्ति दूसरों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का पूरी तरह पालन करे, अपनी नैतिक जिम्मेदारियों को तत्परता के साथ निबाहने के लिए कठिबद्ध रहे। सामाजिक सुख-शांति और प्रगति का यही आधार है। जिस देश के नागरिक अपने कर्तव्यों का ठीक तरह पालन करते हैं, वही सबल राष्ट्र कहलाता है। जिस समाज में चरित्रवान् लोगों का बाहुल्य रहता है, वही सभ्य कहा जाता है। किसी व्यक्ति या समूह की उत्कृष्टता केवल इसी आधार पर नापी जा सकती है कि उसमें कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के प्रति कितनी आस्था है ? झूठे और गँवार, चालाक और बैईमान, धूर्त और ढोंगी, आलसी और कायर लोग चाहे कितने ही साधनसंपन्न क्यों न हों, उनका उनके समूह का स्तर सदा गिरा हुआ ही रहेगा। चिरस्थायी उत्त्रति, संतुष्टि और प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकना उनके लिए कदापि संभव न हो सकेगा।

एक-दूसरे के प्रति सद्व्यवहार करने से परस्पर स्नेह, संतोष सद्भाव और प्रसन्नता की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। प्रेम का सदगम सज्जनता और सद्व्यवहार होता है। दुष्टता और दुर्बुद्धि की भावनाएँ मन में रहें, तो किसी के प्रति सच्चा सद्व्यवहार बन ही न पड़ेगा। नीति और चतुरता के माध्यम से जो नकली, बनावटी एवं

झूठा शिष्टाचार करता जाता है, वह देर तक किसी का भ्रम में नहीं रख सकता है। जहाँ सद्भावनाएँ रहती हैं वहाँ प्रेम और विश्वास स्वयंमेव उत्पन्न होते हैं। जब कुछ व्यक्तियों के बीच प्रेम और विश्वास का संबंध बन जाता है, तो वे आपस में मित्र कहलाते हैं और सच्चे मित्रों द्वारा एक-दूसरे के प्रति बरते जाने वाले सदव्यवहार से जितना अधिक सुख मिलता है, उसकी तुलना संसार के और किसी सुख से नहीं की जा सकती।

पति-पत्नी के बीच स्थिर रहने वाला प्रेम और विश्वास जीवन की सबसे बड़ी शक्ति सिद्ध होती है। जिनके जोड़े बिछुड़े गर्ये हैं, वे जानते हैं कि यह आघात कितना असह्य रहा? जीवन सहचर के न रहने पर जिंदगी के दिन कितनी नीरसता और कठिनाई के साथ भार रूप कटते हैं, इसे कोई भुक्तभोगी ही जानते हैं। यदि उनका वह खोया हुआ साथी सारी धन-संपदा, सुख-सुविधा देकर भी वापस प्राप्त हो सकता, तो निश्चय असंख्य मनुष्य सर्वस्व देकर भी खोये साथी को प्राप्त करने के लिए तैयार होते। परस्पर प्रेम और विश्वास से उत्पन्न होने वाला संतोष, उल्लास और सुख इतना बड़ा है कि उसके लिए मनुष्य सर्वस्व निछावर कर सकता है। पति-पत्नी के वियोग में जीवन तक खो बैठना, सती हो जाना, मित्र के लिए प्राणों की बाजी लगा देना यही प्रमाणित करता है कि सद्भावनाओं से प्राप्त सुख को किसी भी मूल्य पर छोड़ सकना कठिन होता है। परिवार, रिश्तेदारी और मित्रता के संबंधों में बँधे हुए लोग एक-दूसरे के लिए इस गये-गुजरे जमाने में भी बहुत कुछ करते रहते हैं।

कुटुंब, रिश्तेदारी, मैत्री यां विवाह अपने आप में कोई गुण-दोष नहीं रखते। निकटता, समीपता, सद्भावना से उत्पन्न प्रेम ही आत्मीयता का कारण बनता है। अनेकों कुटुंब ऐसे हैं, जहाँ पिता-पुत्र में भाई-भाई में जानी दुश्मनी देखी जाती है। पति-पत्नी के बीच भी कई बार इतना बढ़ा-चढ़ा मनोमालिन्य देखा जाता है कि एक-दूसरे के साथ रहने में दुःख ही अनुभव नहीं करते वरन् कई

बार तो एक-दूसरे की जान के ग्राहक तक बन जाते हैं। रिश्तेदारों में भी कितनी ही जगह लोकाचार जितना ही दिखावटी व्यवहार पाया जाता है। मित्रों में भी अधिकांश मतलब के होते हैं। काम निकलते ही आँखें फेर लेते हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आंतरिक सद्भावना के अभाव में जो पारस्परिक संबंध, मैत्री, कुटुंब, विवाह-रिश्तेदारी, आदि के माध्यम बनते हैं, वे भी अवास्तविक सिद्ध होते हैं। उसके विपरीत इन बंधनों में न बँधे हुए लोग भी केवल मानवता और सज्जनता के नाम पर एक-दूसरे के प्रति बहुत कुछ कर गुजरते हैं और इतना गहरा सद्व्यवहार रखते हैं कि उसकी तुलना में रिश्तेदारी आदि का संबंध बिलकुल तुच्छ सिद्ध होता है।

पारस्परिक सच्चे प्रेम से उत्पन्न होने वाला सुख निस्संदेह इस संसार का सबसे बड़ा वरदान है। वह जिसे भी प्राप्त होता है, निश्चय ही बड़भागी माना जाएगा। यह सौभाग्य प्राप्त कर सकना या उससे वंचित रहना किसी भी मनुष्य के लिए उसके अपने हाथ की बात है। अपने भीतर यदि दूसरों से आत्मीयता और ममतापूर्ण सद्व्यवहार करने की प्रवृत्ति समुचित मात्रा में जाग्रत् हो, तो उसके फलस्वरूप जो भी व्यक्ति संपर्क में आयेगा मिठास और संतोष अनुभव करेगा। उसके अभाव में बनावटी शिष्टाचार आसानी से ताड़ लिया जा सकता है। उसका प्रभाव उतना ही सीमित होता है, जितना कि उथले मन से किया गया था।

जो प्रेम सद्भाव दंपति जीवन में, संतान के साथ, रिश्तेदारी या मैत्री में बरता जाता है, उसे ही थोड़ा और विकसित करके अपने संपर्क में आने वाले सभी लोगों के साथ व्यवहार में लाया जाए, तो वसुधैव कुटुंबकम् का आदर्श पूरा करते हुए हम सच्चे अर्थों में 'उदार चरित' कहलाने के अधिकारी बन सकेंगे। जो सुख, साहस और विश्वास एक मित्र को या एक संबंधी से दूसरे संबंधी को प्राप्त होता है, वही संबंध यदि विकसित होकर सारे समाज में व्यापक बन सके, तो एक मनुष्य के संपर्क से दूसरा मनुष्य

असाधारण प्रसन्नता और प्रफुल्लता अनुभव करेगा। एकता और आत्मीयता के स्नेह संबंध जब लोगों की मनोभूमि में व्यापक रूप धारण कर रहे होंगे, तो इसका प्रतिफल इस धरती पर साकार स्वर्ग के प्रत्यक्ष दर्शन के रूप में ही परिलक्षित हो सकता है। इससे सारी दुनिया सुख-शांति से ओत-प्रोत बन सकती है।

कानून, शासन, समाज-व्यवस्था का उद्देश्य यह है कि मनुष्य परस्पर टकराने की स्थिति से बचें और स्नेह-सद्भाव की परिस्थितियाँ बढ़ायें। संस्थाओं और संगठनों का निर्माण इसी दृष्टि से होता है। सभा-सम्मेलनों, प्रीतिभोज गोष्ठी, आदि का आयोजन यही सोच कर होता है कि एकत्रित लोगों के बीच सहयोग। एवं निकटता के भाव उत्पन्न हों। सांस्कृतिक कार्यक्रम, कलब, पार्टियों, सहभोजों आदि न जाने क्या-क्या कार्यक्रम परस्पर प्रेम भाव पैदा करने के लिए सोचे और किये जाते हैं। नागरिकता और शिष्टाचार का शास्त्र ही इस भावना को लेकर विकसित हुआ है कि मनुष्य एक-दूसरे के लिए हानिकारक क्षोभ उत्पन्न करने वाले सिद्ध न हों, वरन् परस्पर स्नेह, सहयोग, उदारता एवं सज्जनता का व्यवहार करते हुए उपयोगी और सहायक बनकर रहें। यह प्रयत्न जब जितने अंशों में सफल होते हैं, तब उनका प्रभाव समाज की उन्नति एवं व्यक्तिगत विकास के रूप में तुरंत दिखाई देने लगता है।

आम शिकायत यह सुनी जाती है कि लोग अपने नागरिक कर्तव्यों पर ध्यान नहीं देते, व्यक्ति का समाज के प्रति क्या उत्तरदायित्व है और उसे किस प्रकार निबाहा जाना चाहिए ? यह नहीं सोचते। सड़कों पर बौई और न चलने, गलियों में घर का कूड़ा फेंक देने, बच्चों को नालियों पर टट्टी कराने, रास्ते में केले, नारंगी, आलू के छिलके फेंक देने, धर्मशाला, मुसाफिर खाना आदि सार्वजनिक स्थानों में जहाँ-तहाँ गंदगी फैला देने, रेलों में अनुचित परिमाण में स्थान धेरकर बैठने, वचन के अनुसार नियत समय पर उपस्थित न रहने, वस्तुएँ लौटाने का वायदा पूरा न करने, अशिष्टता बरतने आदि बातें इस बात की प्रतीक मानी जाती हैं कि

नागरिक सभ्यता की मर्यादाओं को तोड़ा जा रहा है। उठने, बैठने, बोलने, खाने, नहाने, कपड़ा पहनने, कुल्ला करने आदि में लोग उच्छृंखलता बरतते हैं। असभ्य आचरण करने में गर्व अनुभव करते हैं। इन बुराइयों को दूर करने के लिए नागरिक शिक्षा और शिष्टाचार का प्रचलन होना आवश्यक अनुभव किया जाने लगा है।

सामाजिक मर्यादाओं का पालन करना मनुष्यत्व का और उच्छृंखलता बतरना पशुता का चिह्न माना गया है। इसलिए यह उचित ही है कि मानवीय उत्तरदायित्वों की रक्षा करने के लिए दूसरों का ध्यान रखते हुए अपने आचरण को ऐसा रखा जाए, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में असुविधाजनक न हो। शिष्टाचार सिखाने की कई पुस्तकें भी मिलती हैं और अच्छे लोगों के आचरणों को देखकर एवं उनके प्रवचनों को सुनकर भी इसे सीखा जा सकता है। इस प्रकार सदव्यवहार को एक अच्छी आदत के रूप में एक सीमा तक अपनाया जाना सरल हो सकता है, पर वास्तविक नागरिकता एवं नैतिकता आध्यात्मिक आदर्शों पर ही अवलंबित रहती है। मनोभूमि में यदि दूसरों के प्रति सच्चा आदर, सच्चा स्नेह, सच्चा सौजन्य न हो, तो ठगों धूर्तों और चापलूसों जैसी बनावट कुछ अधिक काम की सिद्ध न हो सकेगी।

चतुरता एवं कला के रूप में वेश्याओं से लेकर ठगों तक और चाटुकारों से लेकर धूर्तों तक सभी इस संबंध में निष्णात होते हैं। दूसरों पर अपनी सज्जनता और मधुरता प्रकट करके, उन्हें कैसे उल्लू बनाया जा सकता और अपना मतलब कैसे गाँठा जा सकता है ? इस विद्या को लोग अब सुविकसित कला का रूप देते जा रहे हैं। विदेशों में तो इस संबंध की ढेरों पुस्तकें भी छप रही हैं, जो उसी मनोवृत्ति के लोगों में लाखों की सख्त्या में हाथों हाथ बिक भी जाती हैं। जेबकटी, उठाईगिरी की तरह यह चतुरता भी अब समझदार लोगों में तेजी से फल रही है। लाठी मारकर छीन लेने या गाली-धूसा से डराकर काम निकालने की विधि अब बदनाम गुंडे, बदमाशों के हिस्से में रह गई है।

नागरिकता का अर्थ बगुलाभक्ति का बाह्य आवरण ओढ़ लेना नहीं वरन् हर किसी को अपनी आत्मा के समान प्रिय समझकर उनकी कठिनाइयों को अपने कष्टों के समान और उनकी सुविधाओं को अपने सुखों के समान समझकर “आत्मवत् सर्व भूतेषु” का आचरण करना है। हम जिस प्रकार के व्यवहार की आशा दूसरों से करते हैं, वैसा ही आचरण औरों के साथ करना चाहिए। हर बात में यही सोचना चाहिए कि यदि हम दूसरे की स्थिति में होते और दूसरी हमारी स्थिति में होता, तो हम उससे क्या आशा करते और उस आशा के पूरा न होने पर कितने खिल्ल होते ? इस कसौटी पर हमें अपने प्रत्येक व्यवहार को परखना चाहिए और जो आचरण अनुपयुक्त लगे उसे छोड़ देना चाहिए।

सभ्यता का अर्थ है—सज्जनता। प्रेम और आत्मीयता की दृष्टि जितनी उद्ददात होगी उतनी ही सज्जनता व्यवहार में आ सकेगी, स्वार्थी कंजूस, लोभी और निष्ठुर हृदय व्यक्ति का कला की तरह दूसरों को प्रभावित करने के लिए भाईचारा बरत लेना आसान है, पर जिस सज्जनता के कारण व्यक्ति कुछ घाटे में रहता है, थोड़ा कष्ट भी उठाता है, वह उन्हीं के लिए संभव है, जिन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखकर, परमार्थ, सेवा एवं उदारता को एक सर्वश्रेष्ठ मानवीय कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया हुआ है तथा लोकहित को ध्यान में रखकर, जो अपनी सुख-सुविधाओं में कमी कर सकता है। दूसरों के प्रति उदार और अपने प्रति कठोर बने बिना सज्जनता का आचरण बन पड़ा संभव नहीं है, जिसके लिए अपनी सुख-सुविधाएँ ही सर्वोपरि हैं, वह क्यों किसी की कठिनाई या सुविधा का विचार करेगा ? स्वार्थ को घटाकर ही परमार्थ की बात बनती है। नागरिक सभ्यता का वास्तविक आधार यही है कि मनुष्य अपनेपन का दायरा बढ़ाकर—मानव मात्र तक, प्राणि मात्र तक व्यापक बना दे। सब के सुख में अपना सुख समझकर प्रसन्नता का और दूसरों के दुःख में दुःखी होकर जो करुणा का अनुभव कर सकता है वस्तुतः वही मनुष्यता का

उत्तरदायित्व अनुभव कर सकेगा और उसी के द्वारा सज्जनता एवं नागरिकता का शिष्टाचार एवं भलमनसाहत का सच्चा व्यवहार बन पड़ना संभव हो सकेगा।

मानव जाति में चल रहे समस्त संघर्षों, क्लेशों, कलहों, द्वेष, दुर्भावों का कारण एक ही है—संकीर्ण स्वार्थपरता, अपनत्व और पापों की पृष्ठभूमि भी यही है। घर और परिवारों में मनोमालिन्य इसी कारण रहता है। मुकदमे—फौजदारी, तनाव और दुश्मनी का आधार यही है। फूट और विघटन इसी से पनपते हैं। प्रेम और मैत्री के दर्शन द्वारा होने का निमित्त यह एक ही है। माननीय सम्यता के स्थान पर पशुता और प्रैशाचिकता की प्रवृत्तियाँ बढ़ते जाने का इसके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं। आनंद और उल्लास इस संसार की किसी भी वस्तु में नहीं, यदि वह कहीं है तो एक ही स्थान पर है—प्रेम और आत्मीयता में। जो भी पदार्थ या व्यक्ति हमारे प्रेम एवं समत्व के दायरे में आ जाता है, वही प्रिय लगने लगता है। यदि कोई चाहता हो कि इस संसार में सर्वत्र आनंद और प्रसन्नता का ही वातावरण दृष्टिगोचर हो, तो उसके लिए एक ही मार्ग है कि अपनी संकीर्णता को उदारता में, स्वार्थ को परमार्थ में परिणत करे।

इस संसार में सद्भाव और सौजन्य बढ़े, अपराधों और पापों की सत्ता घटे, इसका एक ही आधार हो सकता है—सज्जनता की अभिव्यक्ति, सच्ची नागरिकता और वास्तविक नैतिकता इसी को कहते हैं; विश्व शांति की समस्या का हल इसी आधार पर संभव है। मनुष्य-मनुष्य के बीच घटते हुए सद्भाव को रोकने के लिए, पारस्परिक सद्भाव की अभिवृद्धि से प्राप्त होने के आनंद को बढ़ाने के लिए, आत्मीयता को व्यापक बनाया जाना आवश्यक है। मानवीय सद्गुण ही तो बाह्य जीवन में शांति की परिस्थितियाँ उत्पन्न किया करते हैं।



सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन न हो

जिन प्राणियों की आवश्यकताएँ शरीर निर्वाह तक सीमित हैं, वे एकाकी जीवन जी सकते हैं। खरगोश, कबूतर आदि के सामने इतनी ही समस्या रहती है कि वे क्षुधा की शांति एवं शरीर रक्षा कैसे करें? इनका हल दूँड़ निकालना एकाकी प्रयत्नों से संभव हो सकता है। पर जैसे ही प्राणी की मानसिक आकृक्षाओं का क्षेत्र विस्तृत होता है वैसे ही उसे दूसरों का सहयोग अपेक्षित होने लगता है। तनिक-सी भावनाएँ जगने पर उसे कुटुंब बनाकर रहना पड़ता है। इतना ही नहीं झुंड में रहना भी आवश्यक ही जाता है। सारस, चकोर, चकवी, सिंह, सियार, रीछ आदि दंपत्ति, जीवन का सुख लेते हैं। नर-मादा मिलकर रहते हैं। हाथी, मृग, बंदर नील गाय, मधुमक्खी को आदि झुंड बनाकर रहने पर ही संतोष मिलता है। यदि उन्हें एकाकी रहना पड़े, तो उदास एवं दुःखी रहने लगते हैं।

मनुष्य इन सबसे अधिक विकसित प्राणी हैं। इसलिए उसकी बढ़ी हुई मानसिक आवश्यकताएँ तभी पूरी होती हैं, जब मिलजुल कर रहने का, समाज बनाकर रहने का उसे अवसर मिलता है। विवाह की परिपाटी इसीलिए चली। कुटुंब इसी दृष्टि से बने। इनके अभाव में मनुष्य-खोया-खोया-सा अपूर्ण एवं अनुष्य बन जाता है, उसकी प्रसन्नता एवं प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

बात इतने तक ही समाप्त नहीं होती। कुटुंब की परिधि तक सीमित रहकर भी मनुष्य अपना काम नहीं चला सकता। अगणित प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे दूसरों के सहयोग की जरूरत पड़ती है। दुष्ट-दुराचारियों से बचने के लिए शासन की, रुग्ण हो जाने पर चिकित्सक की, शिक्षा के लिए अध्यापक की, दूर यात्रा के लिए वाहन की, शरीर को ढकने के लिए वस्त्रों की, निवास के लिए मकान की, खाने के लिए अन्न की, मनोरंजन के लिए क्रीड़ा-साधनों की, इसी प्रकार विविध प्रयोजनों की

आवश्यकता होती है। क्या कोई व्यक्ति यह सुविधाएँ एकाकी जुटा सकने में समर्थ हो सकता है? जन-सहयोग के बिना, सामाजिक संगठन के बिना उन प्रसाधनों का उत्पादन एवं आदान-प्रदान संभव ही नहीं। यदि सामाजिकता न हो तो फिर मनुष्य को करोड़ों वर्ष पूर्व जैसी आदिम अवस्था में जाना पड़ेगा।

मनुष्य की अब तक की प्रगति का सारा श्रेय उसकी सामाजिकता को मिलजुलकर काम करने की प्रवृत्ति को है। मनुष्य बुद्धिमान् होने से आगे बढ़ा है। पर सच बात यह है कि उसकी असाधारण अहंकार प्रवृत्ति ने वह अवसर दिया कि बुद्धि का विकास करते चले। जिन्हें वह सामाजिकता प्राप्त नहीं हुई है, वे अभी भी अविकसित स्तर का पाश्विक जीवन जीते देखे जाते हैं। भेड़िये की माँद में पाया गया मनुष्य का बालक काफी बड़ा हो जाने पर भी मानसिक दृष्टि में पशु तुल्य ही पाया गया। बुद्धि तत्त्व का बाहुल्य मनुष्य में आदि काल में न था, यह तो उसने अपनी सामाजिकता को परिपुष्ट बनाते-बनाते विकसित किया है। सामाजिकता को ही मानव प्रगति का एकमात्र आधार कहा जाए, तो उसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी

जब सामाजिकता मानव जीवन का अविच्छिन्न अंग ही ठहरी, तो यह आवश्यक है कि उसे शुद्ध और परिष्कृत रखा जाए। अन्न, दूध, फल आदि खाद्य पदार्थ तभी उपयोगी होते हैं, जब वे शुद्ध हों। यदि वे किसी कारण दूषित एवं विषेले हो जाएँ, तो उलटी हानि पहुँचाते हैं, विषेला खाद्य प्राण संकट तक उत्पन्न कर सकता है। इसी प्रकार मानव समाज में सामाजिकता भी जब ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, शोषण, अहंकार आदि स्वार्थपूर्ण संकीर्ण प्रवृत्तियों से गंदी हो जाती है, तो उससे अगणित प्रकार के क्लेश, कलह और शोक संताप उठ खड़े होते हैं। एक कुटुंब के सदस्य यदि प्रेम, सद्भाव और सहयोगपूर्वक रहते हैं, तो वे सभी सुव्यवस्थित और शांतिमय जीवन व्यतीत करते हैं, पर यदि वे परस्पर द्वेष, दुर्भाव रखें, छल, प्रपंच करते रहें, और साथियों की उपेक्षा कर अपना लाभ सोचें, तो

उस परिवार में ऐसी विषम उलझने उत्पन्न हो जाएँगी कि सभी नारकीय कष्ट का अनुभव करने लगेंगे।

समाज भी एक प्रकार का बड़ा परिवार ही है। घर से बाहर रहने वाले कुटुंब के अतिरिक्त अन्य लोगों के सहयोग पर भी हमें आश्रित रहना पड़ता है। वह उचित मात्रा में तभी मिलता है, जब अपनी ओर से समुचित सद्भाव बरता जाए।

वस्तुओं को जल्दी से, अधिक मात्रा में प्राप्त करने की हड्डबड़ी में कुछ अनैतिक, असामाजिक कार्य पद्धति अपना ली जाती है, तो उससे और कुछ प्राप्त भले ही हो जाए, विक्षोभ भी अवश्य बढ़ता है और यह बढ़ा हुआ विक्षोभ आग की चिनगारी की तरह बढ़ते-बढ़ते दावानल की तरह फैल जाता है, तब चारों ओर दम घुटने वाला विषैले धुएँ जैसा वातावरण विनिर्मित होता है, द्वेष, दुर्भाव से, शोक-संताप से, विक्षोभ और प्रतिहिंसा से भरा हुआ समाज वस्तुतः एक नरक है, जिसमें केवल कष्ट ही मिलता और केवल पतन ही होता है।

हमें वस्तुस्थिति समझनी चाहिए। यदि सुखपूर्वक जीना और शांतिपूर्वक जीने देता है, तो यह न भूलें कि मानव प्राणी की सारी प्रगति एवं सुख-शांति उसकी सामाजिकता पर अवलंबित है। एक-दूसरे को स्नेह सद्भाव देकर ही वे परिस्थितियाँ विनिर्मित कर सकते हैं, जिनमें सब लोग सुख-शांतिपूर्वक रहकर प्रगति पथ पर उल्लासपूर्ण बढ़ते रह सकें।



व्यवहार कुशलता की आध्यात्मिक पृष्ठभूमियाँ

मानव एक सामाजिक प्राणी है, उसका संबंध विस्तृत मानव में से होता है। इतना ही नहीं भूमंडल के व्याप्त वातावरण से उसका संबंध होता है। ज्यों-ज्यों व्यक्तित्व का विकास होता जाता है, उसके साथ-साथ ही यह संबंध सूत्र भी विस्तृत होता जाता है। समाज और व्यक्ति दोनों पर परस्पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ता है। दोनों के उत्थान, पतन, सफलता आदि का भी उतना ही प्रभाव पड़ता है। व्यवहार कुशलता इन दोनों को मिलाकर प्रगति-पर्याप्त एवं सफलता की ओर अग्रसर करती है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार कुशलता से व्यक्ति स्वयं तो उन्नत एवं सफल होता ही है किंतु साथ ही साथ समाज पर भी इसका काफी अच्छा प्रभाव पड़ता है। अतः सभी संस्कृतियों ने व्यवहारकुशलता एवं उसके लिए आवश्यक गुणों को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है।

व्यवहार कुशल बनकर सफल एवं आदर्श जीवन का निर्माण करने के लिए निम्न बातों के पालन करने की आवश्यकता है।

(१) **गुण ग्राहकता एवं सद्गुणावलोकन**—मानव प्रकृति की यह कमजोरी है कि अधिकांश मनुष्यों में कुछ न कुछ कमजोरियाँ, बुराइयाँ एवं दोष आदि रहते हैं, इसके साथ अनेकों गुण भी सर्वथा दोषमुक्त अथवा निर्बलतामुक्त व्यक्ति मिलना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य ही है, इसी प्रकार सर्वगुण संपन्न व्यक्ति भी, किंतु श्रेष्ठता इसी में है कि दूसरों के अवगुणों, दोषों की उपेक्षा कर उनके गुणों को देखा जाए और उन्हें ग्रहण किया जाए, दूसरों के सद्गुणों को जाने और उन्हें दाद दें, उनकी प्रशंसा करें। दूसरों का दोष दर्शन अथवा उनमें बुराइयाँ निकालना सरल कार्य है, साथ ही यह एक घटिया मानसिक रोग है, जो व्यक्ति को तुच्छता एवं पतन की ओर ले जाता है। ऐसा व्यक्ति जीवन में सफल एवं उन्नत नहीं

हो सकता, न उसे किसी का सहयोग अथवा सहायता मिल सकती है। अतः दूसरों में सद्गुणों, श्रेष्ठता आदि का दर्शन कीजिए। उसकी विशेषताओं को समझकर उनकी प्रशंसा कीजिए और अपने जीवन में उन्हें उत्तारिये भी। इससे आदर्श एवं उन्नतिशील जीवन का निर्माण होगा, दूसरों का आपको सहयोग मिलेगा और आपको सच्चे मित्र प्राप्त होंगे। स्वभाववश किसी की बुराई भी ध्यान में आये, तो उसे भुलाकर उसके सद्गुणों पर विचार कीजिए, जिससे अपना दृष्टिकोण परिमार्जित बनेगा।

(२) **सहिष्णुता**—व्यवहार कुशल बनने के लिए दूसरी आवश्यकता सहिष्णु बनने की है—दैनिक व्यवहार में सहनशील बनिए। आप से जितनी सहनशीलता होगी उतना ही आप सफल जीवन का निर्माण कर सकेंगे। मानव जीवन में भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ, वातावरण, उतार-चढ़ाव, संयोग-वियोग आते रहते हैं। तरह-तरह के व्यक्तियों से संपर्क होता है, क्रोधी, उत्तेजित, झगड़ालू, विरोधी, दुष्ट प्रकृति के व्यक्तियों से लेकर अच्छे भले व्यक्तियों से आपका पाला पड़ता है। घर, घर से बाहर एवं समाज में आपको अव्यवस्था नजर आती है, लोग आपकी आलोचना करते हैं, गंभीर समस्याएँ आपको रुकावट डालती हैं, किंतु इन सबको अपने विस्तृत हृदय में, दृढ़ता और साहस में क्षमाशीलता में, मानसिक गंभीरता में समा लीजिये, सहनशीलता में परिणत कर दीजिये, इनसे उत्तेजित न होइये। चिड़चिड़ाहट न लाइये। उक्त विषय आपकी शांति, आत्म-निर्भरता, गंभीरता दृढ़ता एवं सहनशीलता को विचलित न कर सकें, इसके लिए पूरा-पूरा ध्यान रखें। आप देखेंगे कि यह सहिष्णुता, सहनशीलता आपके उज्ज्वल भविष्य का मार्ग खोल देगी। परिस्थितियों, समस्याओं के वातावरण, संयोग-वियोग आदि में विचलित हो जाना, उनके प्रवाह से अपने आपको विचलित कर देना मानसिक कमज़ोरी है, जो सफलता से दूर रखती है। अतः इसे छोड़िये। प्रत्येक वस्तु प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक वातावरण में अपने आपको ढालने की क्षमता रखिये। आप

देखेंगे कि शुरू से अंत तक आपकी स्थिति, प्रगति-प्रवाह की ओर बढ़ती रहेगी। सारी विपरीतता-विरोधी, परिस्थितियाँ अंधकार के गर्त में समाप्त हो जायेंगी और आप सफल जीवन की उच्च भंजिल को पार कर लेंगे।

(३) निरहंकारवृत्ति—व्यवहार कुशलता के लिए निरहंकारिता का होना भी अत्यावश्यक है। मनुष्य की यह एक मानसिक कमजोरी है कि वह अपने शरीर, स्वरूप धन, वैभव, विद्या, संपन्नता, कीर्ति आदि का गर्व करके अपने बड़प्पन और अहंकार के समक्ष दूसरों को तुच्छता की दृष्टि से देखता है। यह अव्यवहारिक एवं तुच्छता का चिह्न माना गया। संसार में एक से एक बढ़ा हुआ धनी मानी, संपन्न, विद्वान्-योग्य बैठे हुए हैं। फिर किस बात की अहमन्यता ! इस प्रकार की अहंकारिता प्रगतिशीलता के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है और मनुष्य को आगे नहीं बढ़ने देती। साथ ही इस प्रकार अहंकार समाज में सम्मानास्पद न माना जायेगा। उसके कारण दूसरे असंतुष्ट होंगे और उदास होकर असहयोग करने लगेंगे। इसलिए मिथ्या अहंकार का त्याग कीजिए। अपनी योग्यता, संपन्नता आदि को छोटा मानकर और वृद्धि के लिए प्रयत्न कीजिए। अहंकारशून्य होकर दूसरों को बड़प्पन, महत्त्व प्रदान कीजिए, इसी में आपका भी बड़प्पन एवं महत्त्व है।

निरहंकारिता के लिए आवश्यक है दूसरों के दृष्टिकोण का आदर एवं सम्मान करना सीखा जाए। कोई उत्तम बात कहे, तो उसे स्वीकार करना ही चाहिए, किंतु अन्य कोई व्यक्ति अपनी हठधर्मी एवं अहंमन्यतावश अपने गलत दृष्टिकोण पर भी जोर दे रहा हो तो उस समय उसका भी सम्मान कीजिए और सद्भावना प्रकट कीजिए, फिर एकांत में उससे मिलकर विचार-परामर्श कीजिए। वह अपने गलत दृष्टिकोण को वापस लेकर आपका सहयोगी बन जाएगा। अतः दूसरों के दृष्टिकोण का आदर कीजिए।

बरबस, जबरन आपका सही दृष्टिकोण भी किसी पर थोपने की चेष्टा न कीजिए। यह भी अहंकार वृत्ति का सूचक है। आप

केवल नप्रता भरे शब्दों में अपना सुझाव एवं राय दे सकते हैं। उस पर आप भी व्यक्तिगत कोई जोर न दें। दूसरे व्यक्तियों को तर्क से आपके विषय अथवा सुझाव को मानने दीजिए। इस प्रकार की वृत्ति सफल जीवन एवं दूसरों के सहयोग और मित्रता की वृद्धि करती है।

अनावश्यक उपदेश देने का प्रयत्न भी मत करिए, समाज आपसे जबरन उपदेश ग्रहण नहीं करेगा, न उसका आदर ही करेगा। आप अपना सुझाव और विचार पेश कीजिए, जनता को तर्क एवं विचार बल से उस पर अमल करने दीजिए।

दूसरों के साथ अनधिकार चेष्टा करना भी अहंकार में ही सम्मिलित है। बिना मतलब, अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने के लिए या दूसरों को अपने कार्य में अयोग्य समझते हुए अनावश्यक हस्तक्षेप मत कीजिए। इसे प्रतिपक्षी लोग कभी अच्छा न समझेंगे और आपके प्रति उनके विचार अच्छे न होंगे।

आवश्यकता से अधिक न बोलिये। ज्यादा बोलना मूर्खता एवं घमंड का प्रदर्शन करना है। बातूनी, शेखीखोर, टीपटाप लगाकर बोलने वाला व्यक्ति घटिया दर्जे का माना जाता है। ऐसा व्यक्ति काम भी कम करता है, अतः इतना बोलिये, जो आवश्यक हो, जिससे आपका तथा दूसरों का कुछ हित साधन हो सके। बेकार बकवास करने से आपके व्यक्तित्व का मूल्य घट जायेगा और आपकी शक्तियों का क्षय होगा।

(४) त्रुटि को स्वीकार करना और उसका प्रायशिच्त—यह स्वाभाविक ही है कि प्रयत्न करने पर भी कभी-कभी व्यवहार कुशलता में मनुष्य चूक जाता है और कुछ न कुछ गलती कर बैठता है, किंतु इसके लिए अपने दोष और गलतियों को विनम्र भाव से स्वीकार कर लेना आवश्यक है। जिसके साथ आपने कुछ अव्यवहारिकता की हो उसके पास जाकर आप अपनी धृष्टता को स्वीकार करते हुए उसके लिए क्षमा याचना कीजिये। इससे लोग

आपके हो जायेंगे। अपनी गलती को स्वीकार कर लेने में कभी संकोच नहीं करना चाहिए, न किसी तरह का भय ही।

अपनी अव्यवहारिता के लिये न केवल स्वीकार अथवा क्षमा याचना करके ही रह जाना चाहिए, वरन् भविष्य में उस प्रकार की हरकत न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए तथा उसके प्रायशिच्त के लिए स्वयं को कुछ न कुछ दंड भी देना चाहिए, ताकि भविष्य में ऐसा कभी भी हो।

(५) सबसे प्रेम का व्यवहार—अपने स्वभाव, विचार में स्थित ईर्ष्या, द्वेष एवं तत्संबंधी भावनाओं को निकालकर प्रेम का खोत बहाइये। मानव मात्र से, प्राणि मात्र से प्रेम कीजिए। प्रेम भी निःस्वार्थ हो। उनसे आत्म संबंध कायम करके एक-दूसरे के दुःख-दर्द से आवश्यकता पड़ने पर काम आइये। परस्पर प्रेम, सहानुभूति, सहायता व विनम्रता और सेवा के पवित्र सूत्रों से संबंध बनाइये। इस संसार रूपी नाव में हम सब यात्रा कर रहे हैं। अपने-अपने गंतव्य स्थान पर सब उत्तर जायेंगे। कोई कुछ भी एक-दूसरे से छीनकर नहीं ले जायेगा। जो जैसे आया है वैसे ही जायेगा, अतः फिर क्यों खींचातानी, ईर्ष्या-द्वेष, डाह-जलन कुढ़न हो ? इन दूषित तत्त्वों को निकाल फेंकिये। आपका जीवन शुद्ध प्रेम से सराबोर हो। आप देखेंगे कि हिंसक प्राणी भी आपके सहायक हो जायेंगे सारी विपरीतता अनुकूलता में परिणत हो जायेगी। आपके कदम प्रगति, सफलता एवं विकास की ओर अग्रसर हो उठेंगे। आप जीवन में सफलता प्राप्त करेंगे। आत्मलक्ष्य प्राप्त करेंगे और करेंगे वह सब कुछ जिसके लिये आपका अवतरण माँ वसुंधरा के पवित्र अंक में हुआ है।



विरोधियों की उपेक्षा कीजिए

नदी को सागर तक पहुँचने में अनेकों अवरोधों एवं रुकावटों का सामना करना पड़ता है। बड़ी-बड़ी चट्टानें उसके मार्ग में आती हैं और रुकावटें डालती हैं, लेकिन इन अवरोधों से टकराकर नदी के प्रवाह में तेजी व उत्तेजना पैदा होती है। यह अपने बहने के तारतम्य को नहीं तोड़ती और एक क्षण ऐसा आता है, जब उन अवरोधों को अपने आप हट जाना पड़ता है। नदी के मार्ग से या उसके प्रवाह में टूट-फूटकर बह जाना पड़ता है।

मानव जीवन में भी अंत तक अवरोधों का सामना करना पड़ता है। जितने उच्च लक्ष्य, कार्यक्रम होंगे, उतने ही अनुपात में मनुष्य को विरोधियों का सामना करना पड़ता है। इसलिए जीवन को संघर्षमय कहा गया है। कोई भी व्यक्ति अथवा समाज जब किसी महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, तो दूसरे लोग अकारण ही विरोध करने लगते हैं, उसके मार्ग में रुकावटें डालते हैं, उपहास करते हैं। प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति को तो अवश्य ही अपने जीवन में इन तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, किंतु मनस्वी लोग इन विरोध, रुकावटों को ही अपनी प्रगति और सफलता की फसल के लिए खाद बना लेते हैं। कठिनाई और विरोध का अवसर आने से ही मनुष्य के पराक्रम और आत्म विश्वास का विकास होता है। विरोध उत्साहियों के उत्साह को कई गुना बढ़ा देते हैं। वस्तुतः विरोधी हमारी सहायता करता है, क्योंकि उससे हमारे गुणों का विकास होता है। हममें उत्साह और आत्मस्फूर्ति की वृद्धि होती है।

बहुत-से लोग विरोध के सामने आत्म-समर्पण कर बैठते हैं। हार मान लेते हैं और आगे बढ़ने के विचार ही छोड़ देते हैं। लेकिन यह एक मानसिक कमजोरी ही मानी जाएगी। विरोध को अनुकूलता में ढाल लेना एक महत्वपूर्ण सफलता है। जो इस सीमा को पार

कर लेते हैं, वे जीवन में सफलता की मंजिल भी पार कर ही लेते हैं।

किसी भी शुभ कार्य को प्रारंभ करते ही मनुष्य को दूसरे लोगों के उपहास का सामना करना पड़ता है। लोग कहने लगते हैं—“अरे ! यह क्या कर लेगा ? बेकार दूसरों की नकल करता है। अपने पैर देखकर तो चलता नहीं” आदि-आदि। लोग व्यर्थ ही उसकी खिल्ली उड़ाने लगते हैं। बार-बार टोकते हैं। तरह-तरह से उपहास करते हैं। इस तरह मनुष्य को अपने कार्य के शुभारंभ में ही भारी उपहास का सामना करना पड़ता है और बहुत-से दुर्बल मन वाले लोग यहाँ हारकर बैठ जाते हैं। उनका संकल्प, आकांक्षा जन्म लेते ही मर जाती हैं।

जब कई दृढ़ संकल्प व्यक्ति इस तरह के उपहास की परवाह न कर अपने प्रयत्न जारी रखते हैं, तो प्रतिपक्षी लोग खुलकर विरोध करने लगते हैं, प्रगतिशील के मार्ग में रुकावटें डालते हैं, विज्ञ उपस्थित करते हैं। उसके आचरण, चरित्र पर आक्षेप करने लगते हैं। उसके सहयोगियों को बहकाते-फुसलाते हैं। प्रत्यक्ष रूप में उल्टा-सीधा करते हैं। इस स्थिति में भी कई लोगों का धैर्य डगमगा जाता है और बहुत-से लोग यहाँ आकर अपने पाँव को पीछे हटा लेते हैं। अपने लक्ष्य और शुभ कार्य को छोड़ बैठते हैं।

ऐसे भी मनस्वी होते हैं जो इस तरह के विरोधों की परवाह न कर एकाग्रता के साथ लक्ष्य की ओर बढ़ते रहते हैं और उनके अथक परिश्रम और लगन के कारण जब सफलता के आसार दीखने लगते हैं, तो वे ही विरोधी, आलोचक अपनी सहानुभूति दिखलाने लगते हैं, यहाँ तक कि वे लोग उनके साथ ही आ मिलते हैं। अधिकांश विरोधी-विरोध करना छोड़ देते हैं।

शुभ कार्यों में लगने वाले, उन्नति और विकास की ओर बढ़ने वालों के समक्ष एक ही मार्ग है—दृढ़ता के साथ अपने लक्ष्य की ओर निरंतर गतिशील रहना। एक बार शुभ लक्ष्य और उत्कृष्ट

मार्ग का चुनाव कर फिर उस ओर निरंतर आगे बढ़ते रहना कर्मवीर के लिए आवश्यक है। मार्ग में क्या-क्या मिलता है, किन अवरोधों का सामना करना पड़ता है, क्या-क्या गुजरता है, इसकी परवाह किए बिना, उपहास, विरोध, आक्षेपों को सहन करते हुए, जो अंत तक लगा रहता है, वह अपने लक्ष्य में सफलता न भी मिले, तो अपने सद्गुद्देश्य—लक्ष्य के लिए मर-मिटना या असफल होना भी श्रेयस्कर है। तथ्य का प्रतिपादन करते हुए गीताकार ने कहा है—

‘हतो वा प्राप्त्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय
युद्धाय कृतनिश्चयः ॥२/३७॥’

‘या तो मरकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा, इससे हे अर्जुन ! कृत-निश्चय होकर युद्ध के लिए तैयार हो ।’

निश्चय ही जीवन संग्राम में किसी विरोध, उपहास या मोह से ग्रस्त होकर विरत हो जाना मनस्वी लोगों के लिये जीवित ही मृत्यु प्राप्त करने के समान है। उनके लिए एक ही रास्ता है, अपने पथ पर आगे बढ़ते रहना। इसके परिणाम में प्राप्त होने वाली असफलता का ही दूसरा स्वरूप है। उससे मिलने वाला आत्म-संतोष सफलता से कम नहीं होता।

विरोध और विघ्नों से निपटने का दूसरा मार्ग है, उनकी उपेक्षा करना। समाज में संकीर्ण प्रकृति के लोग, परंपरा के अंधानुयायी, कूपमंडूक लोगों की कमी नहीं होती। इन्हीं का वर्ग बड़ा होता है। यही कारण है कि सदा से नवीन पथ को खोज निकालने वाले, प्रगति और विकास के उपासकों को इन बहुसंख्यक लोगों के विरोध का सामना करना पड़ा है। ऐसे लोग व्यर्थ ही ईर्ष्या-द्वेष या अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर सज्जनों के

मार्ग में रोड़े अटकाते हैं, उन्हें भला-बुरा कहते हैं। मजाक उड़ाते हैं, किंतु इसका एक ही समाधान है कि इस प्रकार के बुरे लोगों की प्रवृत्तियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाए। उन्हें अपनी नीचता को प्रकट करने दीजिए, लेकिन आप अपनी सज्जनता और शालीनता न छोड़ें। अपने मार्ग पर चलते रहें। वे लोग अपने आप ही थककर बैठ जायेंगे। ऐसे लोगों से उलझने में आपकी शक्ति व्यर्थ ही नष्ट होगी।

वस्तुतः इस तरह के विरोधी बहुत ही छोटी बुद्धि के निम्नस्तर के लोग होते हैं, जो अकारण ही जलते-भुनते रहते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य को सदा ही इनके आचरण और हाव-भावों की उपेक्षा ही करनी चाहिए।



अनुशासन का उल्लंघन न करें

सूर्य, पृथ्वी, चंद्रमा एवं अन्य सभी ग्रह-उपग्रह एक ठीक-ठीक नियम, व्यवस्था और विधान के अनुसार काम करते हैं। पेड़ों का उगना, फलना-फूलना, ऋतुओं का परिवर्तन, जीवों का जन्म-मरण आदि भी एक विशेष नियम की प्रेरणा से नियत विधान के अनुसार होता है। संसार की प्रत्येक छोटी से लेकर बड़ी घटनाओं के पीछे एक नियामक विधान ही काम करता है। समस्त ब्रह्मांड का संचालन नियमन करने वाला विधान पिंड अणु-अणु में भी काम करते देखा जा सकता है। प्रत्येक अणु अपने में गतिशील है, उसके भी चारों ओर कई परमाणु चक्कर लगाते हैं। मनुष्य का जीवन भी इस विश्व नियम से अलग नहीं है, वरन् जीवन की प्रत्येक गतिविधि का नियमन भी इसी से होता रहा है।

प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने लिखा है—“आकाश के नक्षत्रों से लेकर अणु-परमाणु के कार्यकलाप और संसार की प्रत्येक घटना के पीछे, मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के पीछे, एक अमर-चेतन सत्ता का नियमित विधान काम कर रहा है। जिस तरह किसी ग्रह के पथ-भ्रष्ट हो जाने पर सृष्टि में खलबली मच सकती है, उसी तरह विश्व नियम, नियति के विधान के विरुद्ध चलने पर मनुष्य के आंतरिक जीवन में भी भयंकर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उसका परिणाम बाह्य जीवन में विनाश-हानि के रूप में ही प्राप्त होता है। विश्व का नियम, नियति चक्र शांति और विकास का रास्ता है, जिसके अनुसार चलने पर मनुष्य के स्वास्थ्य, प्रतिभा के विकास होता है, जीवन में उत्कृष्टता प्राप्त होती है।”

संसार में काम करने वाला नैतिक विधान एक विवेकपूर्ण तथ्य है, जो विभिन्न शक्तियों, पदार्थों, क्रियाओं में संतुलन पैदा करता है। प्रत्येक क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया विश्व नियामक के तथ्यों की प्रेरणा से ही होती है। मन के सूक्ष्म भाव, संकल्प-विकल्प

उतार-चढ़ाव उनमें संतुलन-असंतुलन भी इसी विश्व नियम की प्रतिक्रिया का अंग है।

एडिगटन ने लिखा है, “जिस तरह मनुष्य के कार्यकलापों के पीछे मन की शक्ति कार्य करती है, ठीक इसी तरह सृष्टि के मूल में भी एक चेतन सत्ता कार्य करती है, जो पूर्ण व्यवस्थित और नियामक है। पहले स्थूल दृष्टि से देखने पर जड़ जगत् का कार्य भी एक मशीन की तरह दिखाई देता है, किंतु गंभीर विचार, चिंतन द्वारा देखा जाए, तो मालूम पड़ता है कि जगत् और इसके प्रत्येक कार्यकलाप के पीछे एक चेतनसत्ता काम कर रही है, जो नियामक है।” भारतीय मनीषियों ने तो बहुत पहले ही इस तथ्य की अनुभूति प्राप्त कर ली थी। भारतीय दर्शन तो पद-पद पर इस विश्व-विधायक सत्ता को स्वीकार करके ही आगे बढ़ता है।

नियति चक्र, विश्वनियम, नैतिक विधान एक विवेकपूर्ण, व्यवस्थित सुनियोजित तथ्य है, जिसका स्वभाव सत्य-शिव-सुंदरम् की रचना सर्जना करना है। यह इतना ही सत्य है, जितना विश्व और मानव शरीर में काम करने वाली अमर चेतना, साथ ही उतना ही सूक्ष्म और दुर्लह भी है। इसे जानना-समझना उसी तरह क्लिष्ट है जैसे शरीर में आत्मा को जानना। यही कारण है कि अधिकांश लोग इसे समझ नहीं पाते। खासकर व्यक्ति अपने सीमित ज्ञान तुच्छ दृष्टिकोण से इस असीमित, सर्वव्यापी तथ्य को बहुधा समझ नहीं पाते।

विश्व विधान, नियति चक्र की अनुभूति के लिये विवेकयुक्त-निरपेक्ष बुद्धि की आवश्यकता है। अविवेकी-अज्ञ मनुष्य अपने जीवन की समस्याओं का हल ही नहीं निकाल सकता, तो इस संसार के मूल नियम, मूल विधान को समझने की बात और भी दुर्लह है। इस तरह के अज्ञानी जन जीवन की बाह्य घटना और उनके अच्छे-बुरे परिणामों से ही सुखी-दुःखी होते रहते हैं। वे नहीं समझते कि उन्हें सुधारने के लिए ही दुःख एवं कष्ट दंड रूप में किसी नियति की प्रेरणा से मिलते हैं। इसी तरह अच्छे कार्यों का

परिणाम सुख, शांति, प्रफुल्लता, उल्लास-वरदान के रूप में मिलता है।

गंभीर चिंतन के द्वारा मनुष्य विचार करे, तो उसे भौतिक बाह्य जगत् के प्रत्येक क्रियाकलाप के अंतर्गत एक शक्ति काम करती हुई मालूम पड़ेगी। एक नियत विधान के अनुसार संसार के कार्यों का नियमन, संचालन होता दिखाई देगा। आग छूने पर जला देती है। पानी गीला कर देता है। विद्युत् छूने पर प्राण हरण कर लेती है। बर्फ ठंडी लगती है। कदाचित् नक्षत्र टकरा जायें, तो विश्व में खलबली मच जाए। इसी तरह कई नियम देखे जा सकते हैं। ये बाह्य जगत् में काम करते हैं इसलिये इन्हें भौतिक नियम कहा जायेगा। सूक्ष्म जगत् में काम करने वाले नैतिक नियम कहलाते हैं। प्रत्यक्ष रूप में किसी इंद्रियों के संयोग से इनको नहीं जाना जा सकता, किंतु गंभीरतापूर्वक सूक्ष्म दृष्टि के साथ देखने पर इन्हें उसी तरह जाना जा सकता है जैसे किसी भौतिक नियम को जाना जा सकता।

नियति चक्र की अनुकूल दिशा में चलकर ही व्यक्ति और समाज की उन्नति विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरीत चलना विश्वनियम का उल्लंघन करना अपनी अवनति और पतन को निमंत्रण देना है। विद्युत् का सदुपयोग करके उससे बड़े महत्त्वपूर्ण काम लिए जा सकते हैं। मशीनों, इंजिनों, पंखे, रेडियो तथा अन्य उपकरणों को गति मिलती हैं। सुंदर-सुरुचिपूर्ण प्रकाश प्राप्त किया जाता है। सचमुच विद्युत् ने संसार का नक्शा ही बदल दिया है। इसी बिजली को गलत ढंग से छू लिया जाए, तो यह प्राणघातक बन जाती है। आग का उपयोग मनुष्य की बहुत-सी समस्याओं को हल कर देता है। अग्नि मनुष्य की जीवनदाता है, किंतु गलत ढंग से नियम विरुद्ध होने पर यही प्राणलेवा बन जाती है। परमाणु शक्ति संसार के अभाव, गरीबी, अनेकों समस्याओं का समाधान करने में समर्थ है, किंतु उसके गलत उपयोग से संसार का कुछ ही समय में नाश भी किया जा सकता है।

नियति चक्र, विश्व विधान भी ठीक इसी तरह है। इसके अनुरूप चलने पर मनुष्य की उन्नति, विकास समृद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है और इसके विरुद्ध चलने पर मनुष्य को असीम दुःख, परेशानी, विपरीतताओं का सामना करना पड़ता है। विश्व नियम नियति चक्र किसी के सुख-दुःख का ध्यान नहीं रखता। वह एक नियम है जो सब पर लागू है। यह दुधारी तलवार है। सामने चलाकर जीवन के रण में विजय पाई जा सकती है और विपरीत दिशा में चलाकर अपना ही नाश किया जा सकता है। बुरे आचरण करना, बुरे कर्म करना, नियति के विरुद्ध चलना, अपने लिये बुरे परिणाम पैदा करता है। ऐसी स्थिति में सुखमय, शुभ-हितकर परिणामों की आशा करना व्यर्थ है। बुराई का परिणाम कालांतर में बुरा ही होता है।

बबूल के बीज बोने पर काँटेदार वृक्ष का पैदा होना निश्चित है, किसी भी तरह का अनैतिक बुरा कार्य करने पर शारीरिक अथवा मानसिक रोग या किसी बाह्य दंड विपत्तियों का सामना करना पड़े, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। नियति चक्र, नैतिक मर्यादाओं के विरुद्ध आचरण करने पर मनुष्य का मनोबल क्षीण हो जाता है। कई तरह के कुविचार-कुकल्पनाएँ उसके मन में घुस जाती हैं, जिनसे बाह्य जीवन भी प्रभावित होता है और उसके फलस्वरूप कई दुष्परिणाम मिलते हैं। मानसिक द्वंद्वों में मनुष्य घुल-मिलकर विनाश को प्राप्त होने लगता है, अनैतिक आचरण से मनुष्य का विवेक-नैतिक बुद्धि प्रबल नहीं होती और उसे उचित-अनुचित का भी ध्यान नहीं रहता। फलस्वरूप गलत निर्णय होते हैं और इससे मनुष्य भयंकर दुःखद परिस्थितियों में पड़ जाता है।

इसका यह भी अर्थ नहीं कि विश्व नियामक की विधान मर्यादा तोड़ने वाले मनुष्यों से कोई दुश्मनी हो। यह सुधारात्मक, संतुलन पैदा करने वाला तत्त्व है। जिस तरह किसी रोग के बाह्य लक्षण उस रोग को प्रकृति द्वारा शरीर से बाहर निकालने का प्रयत्न है, उसी तरह नियति चक्र के विरुद्ध आचरण करने से

मिलने वाला शारीरिक या मानसिक दंड अनैतिक कार्य करने वाले को उस ओर से विरत करने के लिए ही एक प्रयत्न है। अभिमानी, दुराचारी अपनी असहाय दीन अवस्था में अपने अनैतिक कार्यों के लिए बहुत पश्चात्ताप करते हैं। नियति की ठोकर खाकर ही मनुष्य को कुछ होश आता है और वह अपने दुष्कर्मों के बारे में समझने लगता है। भविष्य में ऐसा न करने का संकल्प भी करता है, खासकर परेशानी की स्थिति में तो वह दुष्कर्म नहीं ही करता। ऐसी स्थिति में कई सुधार भी किये जाते हैं, अनैतिक कार्य छोड़ देते हैं। विश्वनियामक सत्ता का अनुभव करने लगते हैं और उन्हें यह सोचने को बाध्य होना ही पड़ता है कि कोई सत्ता हमसे भी प्रबल है, जो हमारे कर्मों का लेखा-जोखा लेती है। इतिहास साक्षी है कि जब नियति को ठोकर लगी विश्व विधान के अनुसार प्रतिक्रिया पैदा हुई, तो बड़े-बड़े महारथी, दिग्गज-बलवानों को यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा कि कोई हमसे भी शक्तिशाली सत्ता है, जो हमारा लेखा-जोखा लेती है। उनका गर्व काफूर हो गया।

विश्वव्यापी नैतिक विधान एक अनिवार्य और अकाट्य नियम है, जो संसार के समस्त कार्यकलापों का नियमन-संचालन करता है। यह सर्वत्र व्याप्त नियम-व्यवस्था है, जड़ पदार्थ और अविकसित प्राणियों का तो यह प्रकृति के माध्यम से सीधा नियमन करता है। पशु-पक्षी प्रकृति की प्रेरणाओं से ही जीवन व्यापार चलाते रहते हैं। मनुष्य का एक विकसित, बुद्धि प्रधान प्राणी होने के नाते केवल यह नियमन करता है, संचालन नहीं। मनुष्य अच्छा-बुरा सब कुछ करने को स्वतंत्र है, किंतु इन सबका परिणाम नियतिचक्र के अनुसार ही मिलता है। ठीक इसी तरह जैसे समाज में अच्छे कार्यों के लिए मनुष्य पुरस्कृत और प्रशंसित होता है, तो बुरे कार्यों के लिए दंडित और उपेक्षित।

मनुष्य अपनी चालाकी, चतुराई, कूटनीति के द्वारा भौतिक जगत् के सामाजिक, राजनैतिक दंड से बच सकता है, किंतु नियति चक्र की निगाह से, विश्व-विधायक के दंड से वह नहीं बच सकता।

यह दंड उसे भोगना ही पड़ता है। अनैतिक' कार्यों के लिये अंतर्द्वद्व, आत्मभर्त्सना होने लगती है। समय पर उसका दुष्परिणाम तो मिलता ही है। असंयमी, दुराचारी, शरीर के साथ ज्यादती करने वाले इन कामों के लिए स्वतंत्र हैं, किंतु नियति के दंड स्वरूप अस्वस्थता रोग, दुर्बलता का दंड उन्हें भोगना ही पड़ता है। संसार की कोई शक्ति उन्हें इससे नहीं बचा सकती। अत्याचार, अनाचार स्वेच्छानुसार का परिणाम विनाश, असफलता हानि के रूप में ही मिलते हैं, तो अच्छे कार्य, सदाचार, पुण्य परमार्थ कार्यों के परिणाम आत्म संतोष, प्रसन्नता, शांति आदि वरदान के रूप में मिलते हैं। बुरे कार्यों के परिणाम बुरे, अच्छे के परिणाम अच्छे रूप में ही मिलते हैं, यह एक निश्चित तथ्य है। दुनिया की खुली पुस्तक में यह सहज ही पढ़ा जा सकता है।

संसार का सबसे विकसित और उत्कृष्ट प्राणी होने के नाते मनुष्य को कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। वह कुछ भी कर सकता है, किंतु नैतिक तथ्य, नियति चक्र और विश्व नियम के विरुद्ध आचरण करने की छूट नहीं है। इस पर तो दंड मिलना अवश्यंभावी ही है। वह इससे बच नहीं सकता। मनुष्य जैसा कर्म करेगा वैसा ही परिणाम उसे प्राप्त होकर रहेगा, वह ध्रुव सत्य है।



मंगल सोचिए—मंगल करिए

इस विश्व में जो श्रेष्ठता, सौंदर्य और महानता दिखाई पड़ती है, वह मनुष्य के सद्विचारों और सत्कर्मों का ही परिणाम है। अपनी अच्छी-बुरी भावनाओं के अनुसार ही जीवन में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। जो सोचते हैं वही करते हैं, इसी के अनुरूप अच्छे-बुरे कर्मों का दंड या पुरस्कार मिलता है। कर्म का महत्त्व जो जी में आये करने से नहीं होता, वरन् उसके भले या बुरे प्रतिफल से होता है। आम का पेड़ लगाना या बबूल बोना दोनों क्रियाएँ एक जैसी हैं। शक्ति, उद्यम व साधन दोनों को एक समान ही जुटाने पड़ते हैं, किंतु आम रोपने का प्रतिफल सुंदर स्वादयुक्त फल, सुखद घनी छाया है और बबूल से न तो छाँव मिलती है न मीठे फल। काँटे विखेरकर दूसरों को दुःख-पीड़ा पहुँचाने का अपकार ही बबूल से बन सकता था। इसके लिए उसकी सर्वत्र निंदा व भर्त्सना ही की जाती है।

मनुष्य स्वतः अच्छा या बुरा नहीं है। यह ढंगाव तो विचारों के साँचे में होता है। गीली मिट्टी को विभिन्न प्रकार के साँचे में दबाकर भाँति-भाँति के खिलौने बनाते हैं। विचारों के साँचे में व्यक्ति का निर्माण होता है। दूषित स्वार्थपूर्ण विचारों से मनुष्य हीन बनता है। दुष्टतापूर्ण, दुष्कर्मों के कारण वह दुःख और त्रास पाता है। मगल-चिन्तन व शुभकर्मों से आंतरिक सौंदर्य के दर्शन होते हैं; श्री, समृद्धि और सफलता का सुख मिलता है।

बुरे विचारों की कीचड़ में फँसा हुआ व्यक्ति अपना प्रभाव खो देता है। यद्यपि उसकी नैसर्गिक पवित्रता नष्ट नहीं हुई, उसकी शक्ति ज्यों की त्यों बनी हुई है, किंतु मान गिर गया, कीमत गिर गई। कुविचार और कुकर्म सदैव मनुष्य को अधोगामी ही बनाते हैं।

देखने में आता है कि लोग प्रायः दूसरों के ऐब निकालते रहते हैं, यह क्रोधी है, यह निकम्मा है, दृढ़तापूर्वक न्यायिक दृष्टि से निरीक्षण करने पर हमें अपने आप में ही अनेक दोष दिखाई दे जाते हैं, नहीं तो यह छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति ही किस अपराध से कम है। निरंतर बुरे

विचार करते रहने से अशुभ कर्म ही बन सकते हैं। कटुता, कलह, द्वेष, दुर्भाव, विभाजन तथा असहयोग ही इसके परिणाम हो सकते हैं।

पाप-पुण्य की व्याख्या करते हुए महाभारतकार ने लिखा है—

अष्टादशपुराणानां सारं-सारं समुद्धृतम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परं पीडनम् ॥
न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदाऽऽत्मनः ।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥

अनु०११३/८

“दूसरों के प्रति उपकार करना ही पुण्य और दूसरों को पीड़ा देना ही पाप है। यही समस्त पुराणों का सार है। दूसरों के साथ वह व्यवहार न करें, जो स्वयं अपने को ही प्रतिकूल जान पड़े। यही समस्त धर्म का सार है। इसके अतिरिक्त दूसरे कर्मों का आधार तो केवल स्वार्थ है।”

स्वभावतः मनुष्य की इच्छाओं में बहुत कुछ समानता होती है। दूसरों से प्रेम, स्नेह, आत्मीयता, सहयोग और सहानुभूति की अपेक्षा सभी रखते हैं। पर जब व्यवहारिक रूप में हम दूसरों के साथ ऐसा बर्ताव नहीं करते, तो इसे कुविचार माना जाता है। अपने अहंकार को श्रेष्ठ मानना और अपनी इच्छाओं की उचित-अनुचित किसी भी तरह से पूर्ति करने को ही पाप माना गया है। अपकार को पाप कहते हैं, क्योंकि यह दुर्भावनाओं के कारण होता है। परोपकार पुण्य है, क्योंकि यह सद्भावना का प्रतीक है। संक्षेप में मंगलमय कामनाएँ पुण्य और स्वार्थपूर्ण भावनाओं को ही पाप कहा जा सकता है।

अपने में जो थोड़ी बहुत गुणों की पूँजी है, इसी पर प्रसन्नता अनुभव करें, उसे विकसित करें तो मनुष्य एक दिन महानता की मंजिल तक पहुँच जाता है। विचारों के अनुसार ही चेष्टाएँ जागृत होती हैं। सत्कर्मों के विस्तार से आत्मा-विकसित होती है, आत्म-विकास से स्वर्गीय सुख की रसानुभूति होती है। पुण्य को प्रोत्साहन और पाप की उपेक्षा आत्मानुभूति के सदुद्देश्य से प्रेरित

हैं। अध्यात्म की पहली शिक्षा यह है कि मनुष्य निरंतर मंगलमय कामनाएँ करे और सदाचारी बने। यह तभी संभव है जब सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिले।

किसी भी व्यवस्था से मनुष्य की आंतरिक पवित्रता का पूर्णतया नाश नहीं होता। वह अज्ञान के अँधेरे में ढँकी-सी रहती है। जैसे अग्नि को राख ढक लेती है, वैसे ही दुष्कर्मों की मलिनता में यह आंतरिक निर्मलता दबी रहती है। इस पवित्रता को पुनः जागृत् करने के लिए प्रशंसा और प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है। आत्म-निरीक्षण द्वारा अपनी शक्ति श्रद्धा और विश्वास को जगाये और प्रेरणा व प्रोत्साहन देकर दूसरों की पवित्रता पुनरुज्जीवित करने में सहयोग दें तो इसे महान् शुभ कर्म मानना पड़ेगा। सामाजिक सुव्यवस्था की नीति यही है कि सब मिल जुलकर एक-दूसरे को महानता की ओर अग्रसर करने में सहयोग दे रहें। यह कार्य सदविचारों और सत्कर्मों द्वारा सहज ही में पूरा हो जाता है।

मानव-जीवन की सार्थकता के लिए विचार-पवित्रता अनिवार्य है; मात्र ज्ञान-भक्ति और पूजा से मनुष्य का विकास एवं उत्थान नहीं हो सकता। पूजा, भक्ति और ज्ञान की उच्चता व श्रेष्ठता का व्यावहारिक रूप से प्रमाण देना पड़ता है। जिसके विचार गंदे होते हैं, उससे सभी घृणा करते हैं। जो वातावरण गंदा है, वहाँ जाने से सभी को झिझक होती है। शरीर गंदा रहे तो स्वस्थ रहना जिस प्रकार संभव नहीं, उसीप्रकार मानसिक पवित्रता के अभाव में सज्जनता, प्रेम और सद्व्यवहार के भाव नहीं उठ सकते। आचार-विचार की पवित्रता से ही व्यक्ति का सम्मान व प्रतिष्ठा होती है।

सतोगुणी विचारों से प्रेरित मनुष्य का खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा भी पवित्र होती है। मन, वचन, कर्म में सर्वत्र शुचिता के दर्शन होते हैं। ऐसा व्यक्ति सभी के हित व कल्याण की बात सोचता है। सभी की भलाई में अपनी भलाई मानता है। इससे दैवी संपत्तियों का विस्तार होता है और सुख की परिस्थितियाँ बढ़ने लगती हैं। पूर्व काल में लोग अधिक सुखी होते थे, इसका कारण

लोगों के आचार-विचार में पर्याप्त पवित्रता थी, अनैतिक कर्मों के बाहुल्य के कारण इस समय दुःखों को बाहुल्य हो रहा है। समय सदा एक-सा रहता है, किंतु आचरण और विचारों की भिन्नता के फलस्वरूप एक समय की परिस्थितियाँ सुखद बन जाती हैं और इसके प्रतिकूल परिस्थितियाँ कष्ट व क्लेशदायक रहती हैं।

इन परिस्थितियों को सुधार लेना भी संभव है। अपने जीवन को सेवामय बनने दें। इसके लिए अपने हृदय में चाह तथा उत्साह बनाये रखें। सहानुभूति, प्रेम, उदारता, सहनशीलता और नम्रता से मन की स्थिरता बनी रहती है। उसी प्रकार परमात्मा को अंतर्यामी—घट-घटवासी मानने से किसी के प्रति पाप का भाव पैदा न होगा। सामने कोतवाल खड़ा हो, तो चोर को तिजोरी में हाथ लगाने की हिम्मत भी न पड़ेगी। “परमात्मा हर घड़ी हमारे साथ रहता है” यह मान्यता जितनी अधिक दृढ़ होती जाती है, उतना ही दुष्कर्मों से छुटकारा मिलता जाता है, इससे अपना दृष्टिकोण निर्दोष बनता है।

सच्चे हृदय से जो आत्म कल्याण की बात सोचते हैं, उन्हें इसके लिए प्रयत्न भी करने पड़ते हैं। नम्र, उदार, दयालु, उपकारी और दूसरों का सहायक बनना पड़ता है। इन सद्गुणों का विकास एक आवेश में यथावकाश कर लेना ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् अपने संपूर्ण जीवन में इन सद्गुणों का अभ्यास करते रहना पड़ता है। सात्त्विकता की वृद्धि के साथ-साथ आत्मा में असाधारण शांति, संतोष, प्रसन्नता, उल्लास और आनंद छाया रहता है। उसका प्रत्येक विचार और कार्य पुण्यमय होता है।

आत्मा की दृष्टि से संसार के संपूर्ण प्राणी एक समान हैं। शरीर, धन, मान, पद और प्रतिष्ठा की बहुरूपता आत्मगत नहीं होती है। इस दृष्टि से ऊँच-नीच, वर्णभेद छोटे-बड़े, बलवान्, धनी या निर्धन का कोई भेदभाव नहीं उठता। परमात्मा के दरबार में सब एक समान हैं, कोई ऊँच-नीच छोटा-बड़ा, राजा या फकीर नहीं है, जो यह समझता है, सबके साथ सदैव पूर्ण भावनाएँ रखता है, वही सच्चा अध्यात्मवादी है।

मुद्रक युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)